प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण, काशी
नवीन द्वितीय-संस्करण, २१०० प्रतियाँ, संवत् २०३०
मूल्य [illegible]

# ग्रंथमाला का परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्‌भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्रचर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचित कर्मो के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजन का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य का विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पतिवियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवनकाल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब

ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्य-काल में ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्था-पत्र बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशीनागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की। तीस हजार रुपए के सूद से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी में 'सूर्यकुमारी आर्यभाषा गद्दी (चेयर) की स्थापना की।

पाँच हजार रुपए से उपर्युक्त गुरुकुल में चेयर के साथ ही सूर्यकुमारी निधि की स्थापना कर सूर्यकुमारी ग्रंथावली के प्रकाशन की व्यवस्था की।

पाँच हजार रुपए दरबार हाई स्कूल शाहपुरा में सूर्यकुमारी-विज्ञान-भवन के लिये प्रदान किए।

स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस माला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्य-कुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान लाभ होगा।

---

# प्रकाशकीय

हिंदी के अन्यतम पत्रकार तथा अनन्य शैलीकार पं० कमलापति त्रिपाठी की यह कृति सन् १९४२ की महान् क्रांति में विशिष्ट योगदान के फलस्वरूप प्राप्त कारावास के समय नैनी जेल से उनके आत्मज श्री लोकपति त्रिपाठी (लल्लू) को लिखे गए पत्रों का संकलन है। यद्यपि ये पत्र व्यक्तिगत हैं, तो भी आदर्श, नैतिकता, अध्यात्म, मानवता एवं भारतीय जीवनदर्शन के प्रति अगाध रूप से आस्थावान् गंभीर अध्येता तथा विचारक की अनुभूत कृति होने के कारण इन पत्रों में अर्थ, धर्म, काम, विज्ञान, दर्शन एवं समाज शास्त्र की दृष्टि से जीवन एवं जगत् के सामान्यत: प्रत्येक पहलू पर जो सम्यक् तथा मूल्यवान् विचार प्रस्तुत किए गए हैं उनके कारण इसका महत्व सार्वलौकिक हो उठा है। विषमता की पीड़ा से व्यस्त व्यक्ति तथा समाज और जीवन तथा जगत् में समता एवं सामंजस्य की स्थापना के लिये विचारपथ का सुस्पष्ट निर्देश भी इस कृति में है।

केवल विचारों की ही नहीं, पत्रलेखन की कला एवं शिल्पविधि की दृष्टि से भी ये पत्र लेखन की भावनात्मक, वर्णनात्मक एवं विचारात्मक शैली की त्रिवेणी हैं। भाषा और शैली का यह निजत्व उसकी अपनी मौलिक विशिष्टता है।

इसके पूर्व भी हिंदी में पत्रों के अनेक संकलन प्रकाशित हो चुके हैं, पर एक ही व्यक्ति को एक व्यक्ति के द्वारा लिखे गए ऐसे पत्रों का, जो गरिमामय कृतित्व का रूप पा सके, संभवतः यह प्रथम संकलन है। इसलिये इस कृति का ऐतिहासिक महत्व भी है।

इस मूल्यवान् कृति का प्रथम संस्करण सन् १९४६ ई० में प्रकाशित हुआ था। अनेक वर्षों से यह अप्राप्त थी। पंडित जी की प्रसिद्ध कृति 'मौर्यकालीन भारतवर्ष का इतिहास' का प्रकाशन सभा से हुआ है और सभा के प्रति उनकी सदैव से आत्मीयता है। उन्होंने इसे भी सभा को प्रकाशित करने का अवसर देकर उस पर विशेष कृपा की है।

इस नवीन संस्करण में कोई परिवर्तन उचित नहीं था क्योंकि जिस समय और जिन परिस्थितियों में यह पुस्तक लिखी गई थी उनका अपना विशेष महत्व है। अतः किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्द्धन अपेक्षित नहीं था।

यह कृति सूर्यकुमारी ग्रंथमाला में प्रकाशित हो रही है। इस ग्रंथमाला में प्रकाशित ग्रंथों का हिंदीजगत् में विशेष आदर हुआ है। इसमें अब तक ३६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से निम्नांकित अब भी उपलब्ध हैं।

(१) ज्ञानयोग, २ भाग, (३) करुणा, (४) शशांक, (५) बुद्धचरित, (६) मुद्राशास्त्र, (७) अकबरी दरबार, भाग १, २, ३ (८) पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, (९) हिंदू राजतंत्र, भाग १, (१०) कर्मवाद और जन्मांतर,

(११) हिंदी रसगंगाधर, भाग १, (१२) हिंदी गद्य-शैली का विकास, (१३) हिंदी रसगंगाधर, भाग २, (१४) गुलेरी ग्रंथ, भाग १, (१५) हिंदी रसगंगाधर, भाग ३, (१६) भारतेंदु ग्रंथावली भाग २, (१७) भारतेंदु ग्रंथावली भाग ३, (१८) तुलसी की जीवन भूमि, (१९) असीम, (२०) पाषाण कथा, (२१) ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत, (२२) तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य तथा (२३) निर्गुणसाहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि। (२४) मयूक (२५) ध्रुवा (२६) लत्फुल्ला।

आशा है इस ग्रंथमाला की इस कृति का अपनी गरिमा के कारण हिंदी जगत् में सदा समान रहेगा।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा
सं० २०३० वि०

प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

# निवेदन

प्रस्तुत पंक्तियाँ यद्यपि पृष्ठों में आबद्ध होकर ग्रंथ के रूप में अवतीर्ण हुई हैं तथापि मैं उन्हें ग्रंथ की संज्ञा प्रदान करना उचित नहीं समझता। सच मानिए ग्रंथप्रणयन की दृष्टि से ये लिपिबद्ध नहीं की गई थीं। बेशक विशेष परिस्थिति में पड़े हुए हृदय की प्रतिबिंब बनकर प्रादुर्भूत हुईं। उसमें भावुकता का तूफान है; स्मृतियों की शृंखला में जकड़े हुए प्राण की आकुलता है; अतृप्ति और अभाव से संभूत आवेश है, आवेस में मोह का आक्लेश है, आदर्शानुजनित प्रेरणा है तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात से उत्पन्न अंतःसंघर्ष की प्रतिध्वनि है। मनुष्य केवल मिट्टी का पुतला नहीं है। वह अनंत चेतना और अनुभूतियों की प्रतिच्छाया भी है। वह इष्ट का अनुरागी और अनिष्ट के प्रति सहज विरागी भी होता है। घटनाओं के प्रवाह पर किसी अदृश्य का नियंत्रण होता है अथवा नहीं, यह तो मैं नही जानता पर इतना अवश्य देखता हूँ कि जीवन हठात् ऐसी परिस्थितियों में पड़ जाता है जिनसे निकलने में असमर्थ होकर उन्हें भूल जाने की चेष्टा करता है। ये पंक्तियाँ उस चेष्टा और प्रयास का परिणाम भी हैं।

प्रयाग के नैनी जेल की एक कोठरी में ये पंक्तियाँ लिखी गईं। जिस समय ये लिखी जा रही थीं उस समय लेखक की मनःस्थिति विशेष प्रकार की हो चुकी थी। परिस्थितियाँ मनोदशा का साँचा हुआ करती हैं। समय विशेष पर आपकी मनःस्थिति विशेष परिस्थितियों के साँचे में ढलकर विशेष रूप ग्रहण करके उपस्थित होती है। मैं भी ऐसी ही मन.स्थिति के वशीभूत था। जिन परिस्थितियों में पड़ गया था और घटनाओं ने जीवन को जो दिशा प्रदान कर दिया था, उनके फलस्वरूप मन की जो स्थिति हो गई थी उसका चित्रण करना यहाँ आवश्यक नहीं है। पाठक आगामी पृष्ठों में स्वयम् ही उसकी झलक पावेंगे। पर यहाँ इतना अवश्य कह देना चाहता हूँ कि उस समय जीवन के सहज अंतर्द्वंद्व से प्रसूत मन.स्थिति की आधारपीठिका इन पंक्तियों की प्रेरणा रही। कारा की घृणित कोठरी में आबद्ध बंदी को अपनी परिस्थिति को भुला देनेवाले उपादान भी उपलब्ध न थे। न कोई सक्रियता थी, न मनोरंजन के साधन, न समय काटने का कोई उपाय। निष्क्रिय, स्पंदनहीन जीवन एकांत घड़ियों को पाकर स्मृतियों और अनुभूतियों के उन्मुक्त आकाश में उड़ चला। वही उड़ान शब्दों में अंकित हो गयी।

स्पष्ट है कि इन पंक्तियों में जो कुछ होगा वह अत्यंत निजी होगा। फिर हमारी निजी चाह या अनचाह, दुःख, सुख, स्मृति, अनुभूति, रागविराग से न किसी दुसरे को संबंध हो सकता है और न किसी को उसमें दिलचस्पी। यह मैं जानता था; फलतः यह भी नही चाहता था कि इन पक्तियों को प्रकाशित किया जाय। एक बात और है, मुझे इन्हें प्रकाशित करने में संकोच भी हो रहा था। क्योंकि जेल से बेटे या बेटी के नाम से पत्र लिखने की प्रथा और बाद में उन्हें प्रका-

शित कर देने की परंपरा बहुत बड़े लोगों को शोभा देती है। कुछ बड़े लोगों ने यह करके देश और साहित्य की महती सेवा भी की है। मुझे वह संकोच होता था कि इन्हें प्रकाशित करना न केवल आत्मविज्ञापन समझा जायगा पर यह भी समझा जा सकता है कि किसी बड़े की नकल करने की चेष्टा की गई है। इन विचारों के कारण मैंने कभी यह सोचा भी न था कि इन्हें प्रकाशित करना है। पर समय आया जब प्रकाशन के लिये इन पंक्तियों को प्रेस में जाना पड़ा। मेरे कतिपय मित्रों और कृपालुओं ने इन्हें देखा, पढ़ा और आग्रह किया कि इसका प्रकाशन करा दिया जाय। संभवतः मेरे प्रति अपने स्नेह के वशीभूत होकर ही उन्होंने इसका आग्रह किया। क्योंकि मैं नहीं समझता कि इसके प्रकाशन से किसी का कुछ लाभ हो सकता है अथवा उसके द्वारा साहित्य और समाज की कोई सेवा हो सकती है।

जो भी हो, अब पंक्तियाँ प्रकाशित हो रही हैं। मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि इन्हें प्रकाशित करने की मेरी धृष्टता को क्षमा किया जाय, तो मुझे अत्यंत संतोष प्राप्त होगा। क्योंकि मैं यह समझूँगा कि उससे किसी की कुछ सेवा तो हो गई। अधिक क्या लिखूँ।

कमलापति

नैनी सेंट्रल जेल
८ नवंबर ४२

प्रिय लालजी।

कारा की एक कोठरी में बैठा हूँ। इसे यदि कोठरी न कह कर कंदरा के नाम से संबोधित करूँ तो अधिक उपयुक्त होगा। इसकी लंबाई चौड़ाई तो काफी है। ८ फुट के करीब लंबी और उतनी ही फुट चौड़ी कोठरी को छोटी नही कह सकते। फर्श से सटी एक छोटी सी खिड़की है जिसमे मोटे लोहे के छड़ों का जंगला फिट है। कोटरी का प्रवेशद्वार भी लोहे के मोटे छड़ों से भरा है। जेल में लोहे का ही साम्राज्य होता है। जंगले लोहे के, दरवाजे लोहे के, ताली ताले लोहे के, हथकड़ी और बेड़ियाँ लोहे की, पैर मे पड़े कड़े और गले में पड़ी हँसुलियाँ लोहे की। कायदा कानून लोहे का और अधिकारियों तथा कर्मचारियो के हृदय भी संभवतः लोहे के ही। जिधर देखो लोहा। अशुभ और अमंगल वेषधारी इस पदार्थ के बीच घिरा हुआ मैं कुछ लिखने बैठ गया हूँ। प्रचंड क्रूर शनि का प्रतिनिधित्व करनेवाला यह लोहा ग्रहदशा की भाँति मस्तक पर सवार है। लिखने बैठा हूँ पर जानता नहीं कि क्या लिखना चाहता हूँ और क्यो लिखना चाहता हूँ। साधारण दृष्टि से कहा जा सकता है कि लिख रहा हूँ; तुम्हें पत्र लिखने के जो कारण होते हैं उसी कारण मैं भी लिख रहा हूँ। पर मेरी बात इतनी साधारण नहीं है। मैं हूँ राजनीतिक बंदी, जिसे पत्र लिखने की इजाजत नहीं है और न यही अनुमति है कि अपने कुशल मंगल से बाहर किसी को सूचित करें। पत्र की बात छोड़ दो, कुछ भी लिखना पढ़ना सरकार को पसंद नही है। न कागज मिल सकता है और न कलम दावात रखने का अधिर है। यदि कभी किसी अफसर वगैरह को दर्खास्त देना हो तो नियमानुकूल कागज की माँग करनी होती है और अफसर लोग लिखने के सामान प्रस्तुत कर देते है। इस स्थिति में क्या लिखने बैठा हूँ, मै स्वयं नहीं जानता।

पर मनुष्य तो बड़ा जटिल प्राणी है। न जाने कितने विरोधी द्वंद्वात्मक तथा रहस्यमय पदार्थो से बना हुआ यह पुतला विचित्रता मे अपना सानी नहीं रखता। वह अपने थोड़े से जीवन में विभिन्न प्रकार के कार्यो मे सतत संलग्न रहता है, पर अधिकतर काम ऐसे हैं जिन्हें वह करता है, किंतु क्यों करता है, यह उसे स्वयं नही ज्ञात होता भले ही काम कर जाने के बाद उसका औचित्य और कारण ढूँढ निकाले, पर उसकी प्रेरणा आरंभ में सहज आवेश के सिवा कुछ नहीं होती। फलतः मैं भी बाध्य हुआ लेखनी उठाने के लिये। न जाने कितने प्रयत्न के बाद लिखने के साधन एकत्र कर सका हूँ। जब बैठा तो सोचने लगा कि क्यो लिखना चाहता हूँ और क्या लिखना चाहता हूँ। दोनों प्रश्नो का कोई उत्तर नहीं मिल

सका। अपने को टटोला तो केवल इतना पाया कि लिखने की प्रबल चाह हो रही है, अतः लिखने लगा हूँ। कुछ तर्क करने की क्षमता तो प्रकृति ने प्रदान कर ही दी है। वही मानवस्वभाव की एक विचित्रता है। सहज प्रवृत्तियाँ अकारण उसे विभिन्न दिशाओं में प्रेरित करती रहती हैं और कठपुतली की भाँति नचाया करती है, पर मनुष्य को इसकी अनुभूति नहीं हो पाती। उसे न अपनी इस दयनीय स्थिति का अनुभव होता है और न किसी के हाथ का खिलौना बनने में लज्जा का आभास! हो कैसे? वह तो मोहाच्छन्न है, अपने अहं के दंभ और व्यक्तित्व के अभिमान से, जिसे प्रकृति ने न जाने क्यों उसे सहज ही प्रदान कर रखा है। फलतः वह न अपनी वास्तविक स्थिति देख पाता है और न अवास्तविकता से छुटकारा पाता है। वह तो अपने अहंकार में तर्क करता है और मैं भी इसी कारण तर्क करने लगा, तथा अपने लिखने के अनेक उचित कारण ढूँढ़ निकाले। पर वस्तुतः कारण अकारण कुछ नहीं है। लिखना चाहता हूँ! प्रवृत्तियों की दुर्दांत शक्ति के वशीभूत होकर अपने हृदय का भार हलका करने के लिये! संभवतः तुम्हें रोगशय्या पर गहरे ज्वर में विकल छोड़कर गया था और तबसे महीनों बीत गये, अंतस्तल में अपने बच्चे के निकट होने की चाह क्यों होती है यह कौन बता सकता है? कहीं राग का अतिरेक, कहीं घृणा की बाढ़। और इस प्रकार द्वंद्वों का निरंतर निवास तथा संघर्ष मानवजीवन की रहस्यमयी ग्रंथि है जिसकी अनुभूति तो होती है, पर जिसके कारणों की व्याख्या में कदाचित् न विज्ञान अब तक सफल हुआ और न दर्शन यह तो एक सत्य है, जिसके रहस्य के उद्घाटन की चेष्टा में मानवकल्पना और बुद्धि न जाने कब से उड़ान ले रही है, पर अबतक किसी सर्वमान्य सिद्धांत पर नहीं पहुँच सकी। मुझे गहरा संदेह है कि कभी वह पहुँच भी सकेगी या नहीं। पर इस विवाद को जाने दो। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि तुम्हें देखने के लिये हृदय में न जाने कैसी गहरी लालसा रहती है। इस लालसा में कोमल भावुकता है और उसकी तृप्ति न होने पर विचित्र प्रकार की कसक, टीस और पीड़ा का अनुभव होता है। उस पीड़ा का उपचार सात तालों में बंद मेरे जैसे बंदी के लिये असभव है। कुछ ऐसा लगता है कि हृदय में उद्भूत भावुकता के बहाव में बहते हुए जड़ लेखनी का सहारा लेकर भौतिक नहीं तो मानसिक संबंध तो तुमसे स्थापित कर ही सकता हूँ। मेरे लिये यह भी कम न होगा। कुछ संतोष, कुछ शांति सी मिले तो वह ग्राह्य ही है! आज तो तुम्हारे योगक्षेम से भी अपरिचित हूँ।

स्वभावतः आशंका और भय तथा मोह से आकुल हृदय में अतीत की स्मृतियाँ एक के बाद दूसरी उमड़ती चली आ रही हैं और न जाने किस प्रकार का भावोद्रेक कर रही हैं। आज से आठ वर्ष पूर्व की बात है। उस समय तुम केवल ८ साल के बच्चे थे। तुम्हारी माता सहसा बीमार हुईं और केवल ७२ घंटों में ही इस क्लेशाकीर्ण भौतिक जगत् से बिदा होने के लियें संनद्ध हो गईं! उनकी इच्छानुसार उन्हें बिस्तर से उठाकर भूमिशायी बना दिया था। वे आध घंटे बाद ही इस नश्वर शरीर का परित्याग कर के सदा के लिये मुक्त होना चाहती थीं। मैं उनके सर के पास बैठा हुआ था और निर्निमेष भाव से दीपनिर्वाण की अद्भुत लीला देख

रहा था। सोच रहा था कि जीवन अपने उदर में मत्यु का बीज लेकर क्यों आता है? सृष्टि और प्रलय, जीवन और मृत्यु का नियंता चाहे कोई क्यों न हो पर अंततः इस क्रूर लीला का लक्ष्य क्या है? किसी का हराभरा उपवन उसकी दृष्टि के संमुख उजाड़कर विनष्ट कर देने में किसी को क्या मिलता है? किसी की समस्त कोमल भावनाओं, मधुर कामनाओं तथा पवित्र साध में आग लगाकर उसके हृदय को भयावना श्मशान बना देने में कौनसा रस मिलता है! साथ ही अनुभव कर रहा था कि इस रहस्य का उद्घाटन हो या न हो, जो होता है वह किसी को प्रिय हो अथवा न हो, पर जिस प्रबल और भीषण धारा में विश्व प्रवाहित्र हो रहा है, उसका दृश्य और मूर्त रूप यही है। ऐसे विचारों में निमग्न बैठा हुआ मैने तुम्हारी माता को आँखें खोलते और अपनी ओर देखते हुए पाया। मुख पर उनके कुतूहल था, उत्सुकता थी और थी विकलता की आभा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे कुछ कहना चाहती है! आँखों में मोह का स्पष्ट आवेग झलक रहा था। मुझे ऐसा लगा कि मानो जीव अपने शरीररूपी पिंजर के प्रबल आकर्षण तथा उससे दूसरे जितने उपादानों का संबंध है उनके बंधन को छोड़ने में व्याकुलता का अनुभव कर रहा है। उनकी वह स्थिति देखकर मेरे हृदय में धक्का सा लगा। अबतक तो मैं पत्थर की भाँति अविचल बैठा हुआ था। संकट और दुःख के प्रचंड आघात से वहुधा मानव जड़ हो जाता है। वह जड़ता उसे उस समय शौर्य और धीरता प्रदान करती है, जब किसी क्रूर घटना का असाधारण वेग उसे पीपल के पत्ते की भाँति दोलायमान करने के लिये आगे बढ़ता है। प्रकृति इसी प्रकार अपनी तुला को संतुलित करती है।

मेरे संमुख ऐसी ही स्थिति थी और ऐसी ही थी जड़ता की मदिरा जिसे पीकर मै गुमसुम हो गया था। बैठे बैठे प्राणी के महाप्रलय की लीला देख रहा था। उस समय उनका उपर्युक्त व्याकुल भाव एक बार मेरे बाँध को तोड़ देने के लिये आगे बढ़ा, पर न जाने क्यों उसका प्रभाव क्षणमात्र में जाता रहा। मैंने स्थिरता-पूर्वक कहा—'कुछ कहा चाहती हो तो कहो'। एक बार उन्होंने पुनः मेरी ओर देखा और धीरे धीरे उनके ओठ हिले। थोड़े से शब्द मंद स्वर में निकले—बोली, 'मेरे बच्चों का क्या होगा'। उनके भाव से ज्ञात हुआ कि वे उत्सुक हृदय से अपने प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा कर रही हैं। यह मेरे हाथ में था कि अपने आश्वासन से उस मातृत्व की पुनीत भावना और लोल लिप्सा का समादर करता जो उस समय उनके अंतस्तल की एकमात्र अधिकारिणी हो रही थी। मातृत्व इस दुःखपूर्ण और क्षतविक्षत धरातल का सर्वोत्कृष्ट वरदान है। पवित्रता, सौंदर्य, सत्य, स्नेह और कला का उच्चतम विकास संभवतः माता के मातृहृदय में ही हुआ है। जिसमें सीमा का बंधन नहीं है, स्वार्थ की दुर्गंधि नहीं है, प्रतिफलाकांक्षा की कालिमा नहीं है, माता का वह शुभ्र वात्सल्य इस अभिशापित मानव की सबसे बहुमूल्य विभूति है। मेरे लिये उनके प्रश्न का उत्तर देने में कहीं किसी प्रकार का संकोच न था। उनकी जिज्ञासा में जो गूढ़ भाव था वह तत्क्षण विद्युच्छटा की भाँति मेरे हृदयाकाश में चमककर विलीन हो गया।

मैंने कहा 'तुम चिंता न करो। जाना चाहती हो तो सुख और संतोष के साथ

जाओ। जबतक मैं जीवित हूँ तबतक तुम्हारे स्थानपर तुम्हारे बच्चों की चौकसी करते रहना ही मेरी एकमात्र साधना होगी। आज से यही क्षण मेरे लिये वैवाहिक जीवन की अंतिम घड़ी होगी'। मेरा उत्तर क्या था मानो उनके विदग्ध हृदय को शीतल करने के लिये स्निग्ध और अमोघ आलेपन था। स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उनके मुखपर विश्राम और शांति की छाया पड़ रही है। जो अंतःसंघर्ष उन्हें उत्पीड़ित किए हुए था वह मानों सहसा छिन्न भिन्न हुआ, और तत्काल भारी बोझ हटने से जो राहत मिलती है उसकी आभा दिखाई दी। आज जब वह घटना बैठे बैठे यहाँ मेरे स्मृतिमंदिर में एक के बाद दूसरी शृंखलाबद्ध चित्रपट की भाँति आ और जा रही है तब मुझे एक प्रकार का संतोष सा हो रहा है। संतोष इस बात से कि मुझे तुम्हारी माता की आंतरिक पीड़ा कुछ कम करने का अवसर तो मिल गया। यही संतोष मेरी सबसे बहुमूल्य संपत्ति है।

जेल का यह एकांत जीवन जहाँ विचार लहरियों को तीव्र बना देने में समर्थ हुआ है वहीं एकाकीपन का भारी भार हृदय पर लाद देने का साधन बना है। मैं तुम्हारी माता की उस धरोहर की पहरेदारी करना चाहता हूँ जो उन्होंने तुम लोगों के रूप में मेरे पास रखी है। मेरा संघर्षात्मक राजनीतिक जीवन कभी कभी इसमें बाधक हो जाता है। मैं इस बाधा का निराकरण करने मे समर्थ नहीं हूँ। यह अनिवार्य कर्तव्य है जिसकी पूर्ति भारतीय होने के नाते मुझे करना ही है। सामूहिक धर्म उपेक्षा की वस्तु नहीं है। यह तो मानव होने के नाते मेरे सिर चढ़ा हुआ मानवता का ऋण है कि मैं अपने देश, अपने समाज, अपनी संस्कृति और अपने इतिहास की ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति मे अपनी शक्ति भर सहायता प्रदान करूँ। इससे विमुख होना तो न केवल मनुष्यता से गिरना है बल्कि मानवता के उस विकास के प्रति विश्वासघात करना है जिसका दायित्व इस युग के समाज और इस युग के प्राणियों ने प्राप्त किया है। फलतः मैं तो अपने को एक ओर अनिवार्य कर्तव्यों के पाश में बँधा पाता हूँ और दूसरी ओर नियति की चक्की में पिस रहा हूँ। तुम्हारे प्रति कर्तव्य, देश और समाज के प्रति कर्तव्य, अपने प्रति कर्तव्य और दूसरी ओर अदृष्ट कालचक्र जो घटनाओं और परिस्थितियों को ऐसे साँचे में ढाल देता है जिसमें कर्तव्य की कड़ियाँ परस्पर आबद्ध होने के बजाय झटका खाकर टूटती और बिखरती नजर आती है। यही संघर्ष, यही विरोध बड़ा भारी बोझ लाद देता है। उस बोझ से लदा आर्त प्राणी कराहकर अपनी पीड़ा कुछ कम करता है। संभवतः मेरा लिखना और लिखने की चाह उसी का प्रतीक है, उसी का मूर्त रूप है।

फलतः लिखना है तो लिखें पर सोचा, तुम्हारे प्रति पत्रों के रूप में कुछ लिखना अधिक अच्छा होगा। पर तुम्हें संबोधन करके कुछ लिखना मेरे लिये तो सरल होगा पर तुम्हारे काम का भी होगा या नहीं, इसमें मुझे भी बड़ा संदेह है। तुम आज जीवन की उस मंजिल मे पहुँचे हो जिसे विकास का काल कहा जा सकता है। यह किशोरावस्था यौवन का प्रभात है। बचपन बीत रहा है और तुम वास्तविक जीवन में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त कर रहे हो। जीवन का यह काल बड़ा महत्वपूर्ण होता है। इस समय यद्यपि स्वतत्र और प्रौढ़ विचार करने की शक्ति

नही होती और न स्थिरता तथा विवेक का विकास हुआ रहता है फिर भी यही समय है जो भावी जीवन का आधार बनता है, मनुष्य के समस्त आगामी जीवन के निर्माण का बीज इसी समय बोया जाता है। किशोर का मस्तिष्क और उसका हृदय स्वच्छ जल की भाँति निर्मल होता है। इस काल मे उसके हृदय और मस्तिष्क में बाह्य परिस्थितियो तथा आंतरिक भावों और दूसरे उपकरणों की जो छाया पड़ती है वह सहज ही प्रतिबिंबित हो जाती है। ये प्रतिबिब एक प्रकार से साँचे का काम करते है जो उसके समस्त जीवन को एक रूप में ढाल देते हैं। अपनी सरल, विमल तथा ग्रहणशील प्रवृत्तियो के कारण आज अंतस्तल में पड़े हुए प्रतिबिब उसके लिये संस्कार बन जाते हैं। आज के इन संस्कारों की छाप अमिट होती है, जो जीवनपर्यत मिटाये नहीं मिटती। ये संस्कार जन्मभर तुम्हारे साथी रहेंगे। ये ही तुम्हारी भावना, स्वभाव, चरित्र, प्रवृत्ति, आदतो को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते रहेंगे। अतएव सोचा कि दो काम एक साथ ही करूँ। अपना भार हलका करूँ और साथ हो साथ जीवन के अपने अनुभवों के द्वारा कुछ ऐसी छाप डालने की चेष्टा करूँ जो आगे चलकर तुम्हारे लिये कुछ सहायक हो सके। संभव है वे तुम्हारे चरित्रनिर्माण में और भावी जीवनसंघर्ष में भी कुछ मदद दे सकें। मैं नही जानता कि इसमें मुझे कुछ सफलता मिलेगी या नहीं। पर मेरा भार कुछ हल्का अवश्य होगा। यहाँ पढ़ने को कुछ नही है, पर सबसे बड़ा ग्रंथ तो जीवन ही है जिसका अध्ययन करने की ओर कभी कोई ध्यान नहीं देता। कैसे आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अति गुह्य रहस्यों का उद्घाटन करने का दावा करता है, पर जो उसके लिये सबसे अधिक स्पष्ट और उसके सबसे अधिक निकट है उसके बारे में कुछ नही जानता। करोड़ों मील दूर के सितारो, सूर्य, चंद्र तथा ग्रहों और उपग्रहों के बारे में आज मनुष्य को काफी ज्ञान है। पृथ्वी के उदर में, महा समुद्र के अतल तल में और गगनचुंबी हिमालय पर्वत की चोटियों का पता उसे लग जाता है। अदृश्य भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं की कल्पना और आभास प्राप्त करने में वह समर्थ होता है पर यह जीवन जो उसके इतने निकट और उसके संमुख इतना स्पष्ट है उसकी गुत्थियों के बारे में उसे या तो अधिक मालूम नहीं है या अधिक जानने की चेष्टा करता है। तो अपेक्षाकृत सबसे कम जान पाता है। मैं जानता हूँ कि इस प्रकार की बहुत सी बातें तुम्हारे लिये व्यर्थ होंगी; क्योंकि तुम आज उन्हें समझ नहीं सकोगे। आज वे भले ही व्यर्थ हों पर कल संभव है तुम्हारे विचारक्षेत्र के लिये एक विषय बन सकें। आज जो बात तुम्हारी समझ में आए और काम की मालूम हो उससे लाभ उठाना और जो न समझ में आए उसे छोड़कर आगे बढ़ जाना।

लिखने का तो मेरा पेशा ही रहा है। संभव है कि रोज की वह आदत ही लिखने के लिये बाध्य कर रही हो। पर बाहर लिखता था रोजरोज की घटनाओं पर। घटनाएँ आज की दुनियाँ में जिस तेजी से घटती थीं उसी तेजी से लिखना पड़ता था। बीसवीं शताब्दी मे दैनिक अखबार के संपादक को इतना अवकाश कहाँ रहता है कि वह आराम से बैठकर एक एक बात को तौलकर, शांति और धैर्य के साथ लिखे। वह तो लिखता है मशीन की तरह और लिखी

हुई पंक्तियों की स्याही सूख भी नहीं पाती कि दूसरी परिस्थिति, बिलकुल उससे भिन्न और कभी कभी उसके विपरीत आ खड़ी होती है। पर जहाँ बाहर लिखने का इतना मसाला था वहाँ यहाँ जीवित ही समाधि की प्राप्ति हो गयी है। यहाँ तो जीवित रहते हुए भी शव हो गया हूँ, यद्यपि जीवन की चेतना चैतन्य है। वह चेतना अपनी लहर में जैसे जैसे लहराएगी वैसे वैसे लहराता रहूँगा। तुम यौवन के प्रथम सोपान पर पहुँच गए हो। शास्त्र कहते हैं कि इस उमर के किशोर को मित्र समझना चाहिए और तद्वत् उसके साथ व्यवहार करना चाहिए। फलत: जो लिख रहा हूँ अथवा लिखूँगा वह एक मित्र के नाते उसी रूप में लिखूँगा। तुम भी उसे वैसा ही समझना। पत्रों में न कोई क्रम होगा और न व्यवस्था। जब जो मन में रहेगा अथवा उठेगा—असंबद्ध, अनर्गल, अथवा अव्यवस्थित—जो आवेगा, उसे ही यदि लिखने की इच्छा होगी तो लिख डालूँगा। क्या लिखूँगा और भावों की कौन सी शृंखला होगी यह कुछ नहीं जानता।

आज तो एक कड़ी यही समाप्त हो रही है, अत: उसके साथ साथ यह पत्र भी।

तुम्हारा

**बाबू**

---

**नैनी सेंट्रल जेल**
१० जनवरी

प्रिय लालजी !

मेरे जेल जीवन के आज पूरे छः महीने बीत रहे हैं। अबतक तुम्हारा कोई समाचार नहीं मिला। इस बार राजनीतिक नजरबंदों पर सरकार ने विशेष कृपा दिखाई है। इसके पहले और अनेक आंदोलनों में जेल आ चुका हूँ पर इस बार का अनुभव कुछ और ही है। राजबंदियों को घरवालों से महीने में एक बार या दो बार मिलने की सुविधा रहा करती थी। हमारे जो साथी 'सी' क्लास में रहते थे उन्हें भी अधिक नहीं तो कम से कम तीन महीने में एक बार घरवालों से मिलने का अधिकार रहता था। इसके सिवा पत्र लिखने की भी सुविधा मिला करती थी। 'ए' और 'बी' क्लास के राजबंदी महीने में दो बार तथा एक बार अपने घरवालों को चिट्ठी भेज सकते थे। 'सी' क्लास में रहनेवाले भी तीन महीने में एक पत्र तो लिख ही पाते थे। ये सुविधाएँ तो उन बंदियों को होती थी जो कैदी होते थे। कैदी से मेरा तात्पर्य उन लोगों से है जिनका अपराध अदालत में सिद्ध करके दंड मिलता था। इसके सिवा इस पराधीन देश में नजरबंद राजबंदी भी हुआ करते हैं। नजरबंदों पर न मुकदमा चलाया जाता है, न उनका अपराध सिद्ध किया जाता है और न उन्हें अपनी सफाई देने का अवसर प्रदान किया जाता है। सरकार किसी को संदेह में गिरफ्तार करके जेल में झोंक देती है और उसका अपराध सिद्ध किए बिना उसे महीनों, वर्षों तक कारा में सड़ाती रहती है। सरकार की निरंकुश सनक के शिकार बहुत से नवयुवकों की स्वतंत्रता और उनके नैसर्गिक अधिकारों का गला घोंट दिया जाता है। यह जंगली और बर्बरतापूर्ण कारवाई वह सरकार करती है जो अपने को सभ्य कहती है। अंग्रेज अपने को दुनियाँ की स्वतंत्रता, न्याय और सभ्यता का ठेकेदार घोषित करते फिरते हैं। उनका दावा है, और जिसकी डफली पीटते वे नहीं अघाते कि मानवता की रक्षा के पवित्र काम में ही वे अपने सर्वस्व की बाजी लगाते रहते हैं। स्वतंत्रता के इन ठेकेदारों और सभ्यता के पुजारियों की करनी जिसे देखनी हो वह इस देश की ओर देखे। अपराध सिद्ध किए बिना किसी की स्वतंत्रता छीन लेना और उसे दंडित कर रखना किस धर्मसिद्धांत और आदर्श को परिपुष्ट करता है इसे वे ही जान सकते हैं जो पशुता करते हुए भी अपनी महत्ता और उच्चता की डींग हाका करते हैं। ऐसे नजरबंदों से आज इस देश के जेल भर उठे हैं। पर इस बार केवल नजरबंदी ही नहीं हैं, बल्कि और भी प्रगतिशीलता दिखाई गयी है। पहले भी नजरबंद हुआ करते थे। वे जेल में तो अवश्य रखे जाते थे पर उनके साथ साधारण कैदियोंसा व्यवहार नहीं

किया जाता था। जिसका अपराध सिद्ध नहीं हुआ है उसे कैदी बनाकर भी कैदी के समान व्यवहार न करने की चेष्टा करके सरकार अपनी निर्लज्जता और अन्याय के बोझ को घटाने की कुछ चेष्टा करती थी। उन्हें अपने घरवालों से मिलने-जुलने, चिट्ठी पत्री लिखने, पठनपाठन, अध्ययन, लेखन आदि की सुविधाएँ अपेक्षाकृत अधिक रहा करती थीं।

आज के समाज की न्यायभावना तबतक किसी अपराधी को भी अपराधी स्वीकार नहीं करना चाहती जबतक उसपर अदालत में अभियोग साबित न कर दिया गया हो और अभियुक्त को अपने को निर्दोष सिद्ध करने का अवसर प्रदान न कर दिया गया हो। यही कारण है कि स्पष्ट खून करनेवाले खूनी को भी बिना मुकदमा चलाए फाँसी पर नहीं लटकाया जाता। यदि कोई अदालत के जज के सामने भी खून कर बैठे तो भी उसे फाँसी तबतक नहीं होगी जबतक उसे सफाई देने का मौका न दिया जाय। पर आज इन सर्वसंमत आरंभिक सिद्धांतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। हजारों व्यक्ति नजरबंद की हैसियत से जेलों में ठूस दिये गये हैं पर उनके साथ वह व्यवहार भी नहीं किया जा रहा है जो पहले नजरबंदों के साथ किया जाता रहा है। आज हम लोगों को घर-वालों से मिलना तो दूर रहा उनके कुशलमंगल की जानकारी के लिये पत्र लिखने अथवा पत्र पाने का भी अधिकार नहीं है।

इस स्थिति में मुझे यहाँ छः महीने बीत गये। आज प्रातःकाल से ही तुम लोगों की याद आ रही है। इस अवधि के बीच तुम्हारा कोई समाचार न मिलने से मुझे जो परेशानी रही है, उसका वर्णन करना नहीं चाहता। मैं समझता हूँ कि यों परेशानी न होती पर इस बार मैं विशेष परिस्थिति में तुम्हें छोड़कर आया था। जिस समय ६ अगस्त को मैं बंबई के लिये रवाना हुआ उस समय तुम ज्वर में पड़े हुए थे। ज्वरग्रस्त हुए तुम्हें दस रोज बीत चुके थे। मुझे वह समय भूलता नहीं जब प्रातःकाल चार बजे मैं तुम्हारे पास बैठा हुआ था और तुम १०४° बुखार में पड़े पड़े छटपटा रहे थे। डाक्टरों ने यह संदेह प्रकट कर दिया था कि तुम्हें संभवतः टाइफाइड हो गया है। एक ओर तुम्हारी वह स्थिति थी और दूसरी ओर मुझे बंबई जाना था। बंबई जाने के लिये मुझे गाड़ी एक घंटे में ही पकड़नी थी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन ७ अगस्त से ही आरंभ होने वाला था। वही आखिरी ट्रेन थी जिससे मैं बंबई पहुँच सकता था। एक ओर तुम्हारी दशा देखता और दूसरी ओर घड़ी। हृदय में जो अंतर्द्वंद्व प्रचंड झंझावात की तरह उठ खड़ा हुआ उसका आभास भला यह जड़ लेखनी क्या दे सकती है। क्या करूँ, क्या न करूँ? कर्तव्याकर्तव्य का ऐसा प्रश्न जीवन में कभी कभी ही पैदा होता है। मुझे तो कम से कम यह स्मरण नहीं है कि ऐसे दुश्चक्र में पहले कभी पड़ा हूँ। मोहाकुल होना तो मानव स्वभाव है। तुम्हारे प्रति अपने सहज मोह और आदर्श के प्रति अपने कर्तव्य का द्वंद्व तो था ही पर यदि इतना ही रहा होता तो शायद मैं कुछ अधिक बल प्रदर्शित कर सकता पर मोह के साथ साथ मेरे सामने प्रश्न कर्तव्य अकर्तव्य का भी उत्पन्न हो गया।

मैं नहीं समझ पाता था कि इस समय उचित क्या है? तुम्हें इस दशा में

छोडकर बंबई की ओर प्रस्थान करना अथवा बंबई जाने का इरादा छोड़कर तुम्हारी सेवासुश्रूषा में लगे रहना। प्रश्न मुख्यतः इस कारण अधिक प्रबल हो उठा कि तुम्हारी माता जीवित नहीं है। मुझे उनका अभाव जैसा उस समय खटका वैसा शायद ही पहले हुआ हो। यदि वह जीवित होतीं तो मैं तुम्हें उनके भरोसे छोडकर, संभवतः बिना किसी संकोच के बंबई जाने में ही अपने कर्तव्य की पूर्ति देखता। पर उस क्षण तो वह थी नहीं। मैं क्या करता ? यह सच है कि देश की पुकार थी कि वे सब लोग जो सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य हैं बंबई की ओर प्रस्थान करें। वहाँ ऐसा निर्णय होनेवाला था जिसका प्रभाव करोड़ों प्राणियों के जीवन पर पड़ सकता था। स्वयं राष्ट्रीय कांग्रेस के जीवन मरण का प्रश्न सामने उपस्थित था। मुझे यह भी आशंका थी कि जो लोग बंबई जाएंगे वे कदाचित घर वापस न आने पाएँगे। राष्ट्र आग में कूदने का संकल्प करने जा रहा था। ऐसे समय में जो उसके सदस्य थे उनका वहाँ पहुँचना ही कर्तव्य था। जिन लोगों ने मुझे अपना प्रतिनिधि चुना था उनके प्रति, देश के प्रति और कांग्रेस के प्रति मेरा यह कर्तव्य था कि इस महत्वपूर्ण मुहूर्त पर मैं बंबई में उपस्थित रहूँ। साथ ही जब इस बात की आशंका थी कि भारतीय कमेटी के सदस्य वापस न आ पाएँगे तब तो यह और भी आवश्यक हो गया था कि मैं वहाँ पहुँचूँ। मुझे कुछ ऐसा लगता था कि यह चुनौती है सरकार को, और इस समय बंबई न जाना संभवतः अपनी मनुष्यता के प्रति अपराध करना होगा। पर जहाँ प्रश्न यह था वहीं दूसरा प्रश्न भी था। क्या इस दशा में तुम्हें छोड़ जाना उचित है ? मातृविहीन रोगग्रस्त बालक के प्रति उसके पिता का भी तो कोई कर्तव्य होता है ? बंबई के निर्णय पर मेरे जैसे छोटे आदमी का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। मेरे वहाँ रहने से कोई अंतर नहीं हो सकता था। मैं बंबई के लिये अनिवार्य नहीं था। मैं तो वहाँ हजारों उत्सुक दर्शकों और सैकड़ों साधारण सदस्यों की भीड़ में लय हो जाने के सिवा रत्ती भर भी कोई महत्व नहीं रखता था। वहाँ तो जो निर्णय होनेवाला था वह होता ही। पर यहाँ मैं अनिवार्य था। तुम्हारे लिये मेरा महत्व था। तुम्हारी देखरेख के लिये तुम्हारी माता के अभाव में माता और पिता दोनों का बोझ ही उठाना चाहिए था। फलतः दोनों ओर से कर्तव्य का प्रश्न उपस्थित था। अवश्य ही मेरे ऐसे तुच्छ व्यक्ति के निजी जीवन की इस छोटी सी घटना का कोई महत्व किसी दूसरे के लिये नहीं हो सकता पर मेरे लिये तो कर्तव्यपथ का निश्चय करने का प्रश्न उत्तुंग और अलंघ्य किसी श्रृंग की भाँति सामने उपस्थित था।

अधिक सोचने विचारने का समय भी तो नहीं था। इधर या उधर का निर्णय करना ही था। अपनी निश्चित गति और 'टिक, टिक' शब्द की रट के कारण घड़ी निस्तब्ध कमरे की उदासी और मेरे अंतःकरण के अंधकार को और गहरा करती जा रही थी। साथ ही मुझे यह सूचना भी देती जा रही थी कि तुम्हारे लिये आज इस अनंत कालप्रवाह की भी सीमा है, तथा दस, पाँच मिनट यदि और अधिक इसी प्रकार बीत गए तो ट्रेन भी अँगूठा दिखाकर चल देगी। हृदय में उस समय जो 'रस्साकशी' हो रही थी उसकी स्मृति से आज भी त्रस्त हो उठता हूँ। हृदय में तूफान था और मस्तिष्क सन्‌सन् कर रहा था। आज सोचता हूँ तो आश्चर्य

होता है। दस, पाँच मिनट का महत्व था और उसी का था सारा खेल। यदि उतने समय और उसी प्रकार बैठा रह जाता तो बंबई न जा पाता और अपने आप ही एक मार्ग निर्धारित हो गया होता; पर उतने ही समय में चल पड़ने का निश्चय हो जाने से दूसरा मार्ग संमुख प्रशस्त हो गया और आज यहाँ बैठे बैठे अतीत का स्मरण कर रहा हूँ। किस प्रकार न जाने कौन सा क्षण मनुष्य के जीवन की धारा को किस दिशा मे उलट पलट देता है ? मालूम नही असहाय और दुर्बल मानव के जीवन के साथ कौन इस प्रकार आँखमिचौनी खेला करता है ? इस हाड़माँस के पिंजर मे कहाँ चेतना की चिनगारी है, कहाँ भावलहरियाँ लहराती है, और कहाँ कर्तव्याकर्तव्य, प्रकाशांधकार तथा सुखदुख और साधना तथा अनुभूति का चक्र चला करता है ? मुझे ऐसा स्मरण होता है कि एक क्षण वह आया जब मै बिल्कुल विमूढ़सा हो गया। तबतक जो कुछ सोचविचार कर सकता था, थोड़ा बहुत तर्कवितर्क कर रहा था वह भी सहसा समाप्त हो गया। ऐसा भान हुआ मानो चेतना की वह टिमटिमाती पतला सी लौ, जो मुझे विचार सागर में झकझोर जाने की अनुभूति करा रही थी एकाएक बुझ गई। वह घड़ी थी जब संभवत: मेरे 'अहं' का भाव कहीं अनंत में विलीन हो गया। मैंने देखा कि तुमने कराह कर करवट ली और आँखें खोलकर, सिर उठाकर मेरी ओर देखा। मै कुर्सी पर बैठा हुआ था। तुम्हें उठते हुए देख तुम्हारी ओर झुका। इससे पहले कि मैं कुछ पूछ सकूँ तुमने कहा 'बाबू ! आप बंबई नहीं गये ?'

तुमने प्रश्न एकाएक किया और मैंने भी सहज भाव से उत्तर देते हुए कहा—'कैसे जाऊँ ? तुम्हें इस हालत में कैसे छोड़ूँ।' न जाने किस प्रेरणा से तुम बोल उठे, 'आप जरूर जाइए, मेरी तबीयत अच्छी हो जाएगी। आप न जाएँगे तो बुखार जल्दी न छोड़ेगा।' मैं तो सन्न हो गया। आज भी उसे लिखते और सोचते हुए जैसे रोमांच हो रहा है। हतबुद्धि मैं खड़ा रह गया। ऐसा ज्ञात हुआ जैसे कोई बलपूर्वक मुझे पकड़कर बाहर ले चला। यात्रा के लिये थोड़ा सा जरूरी सामान जल्दी से बाँधाबँधाया और घर के ताँगे को तुरंत जोत लाने की हाँक लगाई। तुम्हारे चाचाजी से तुम्हें देखते सुनते रहने के लिये कहा और तत्काल सामान लेकर बाहर खड़े ताँगे पर लाद दिया। मुँह से मेरे शब्द नहीं निकल रहा था। विचार-शक्ति का लवलेश भी मानो बाकी नही बचा था। विश्व यंत्र की भाँति काम कर रहा था। नशे में मस्त प्राणी अथवा मंत्रमुग्ध जीव जिस प्रकार किसी के इंगित पर अपने व्यक्तित्व को खोकर काम करने लगता है, उसी प्रकार की गति मेरी हुई। मै ताँगे पर बैठा और स्टेशन की ओर तेजी से रवाना हो गया। मुझे अच्छी तरह याद है कि स्टेशन जाते हुए रास्ते में जैसे मेरी चेतना लौटी। मैं मोहाकुल हुआ और पुन: कर्तव्य की ओर सोचने लगा। मन में आया कि लौट चलूँ, पर मन की करने की सामर्थ्य कहाँ थी। उधेड़बुन में पड़ा ही रह गया और ताँगा स्टेशन पर आ गया। बिना कहे ही सामान लेकर कुली यह कहता हुआ दौड़ा कि 'बाबूजी ! दौड़िए ! गाड़ी छूटने ही वाली है'। मैं भी तेजी से लपका। यदि दो मिनट का और विलंब हो गया होता तो गाड़ी न मिली होती। आज सोचता हूँ, पहले भी सोचा है और उस दिन रेल में बैठने के बाद ही सोचने लगा था कि यह हुआ क्या ? कहाँ तो

ताँगे पर बैठे बैठे भी सोच रहा था कि लौट चलूँ और कहाँ यह सुनते ही कि गाड़ी छूट रही है सारी शक्ति से उसे पकड पाने के लिये क्यों और कैसे दौड़ पड़ा ? यह दृढ़ निश्चय कहाँ से आ गया ? यदि एक दो मिनट और उसी प्रकार अनिश्चित और घपले में पड़ा रह गया होता, जिस प्रकार अब तक बिता चुका था अथवा सनककर दौड़ न पड़ा होता तो ट्रेन अपने ही आप मुझे छोड़कर चली गयी होती। सोचता हूँ उस स्थिति में दोनों बातें रह गई होती। एक ओर तुम्हारे पास पड़ा रह गया होता और दूसरी ओर हृदय को यह संतोष मिल गया होता कि बंबई तो जा ही रहा था पर जब गाड़ी ही छूट गई तो क्या करूँ ?। मनुष्य की यह विशेषता है कि अपनी दुर्बलता को आवरित करने तथा अपनी वासना की तृप्ति करने का तरीका ढूंढ़ निकालता है। वह अपने सारे ज्ञान और समस्त बुद्धि तथा पूरी तार्किकता का आश्रय लेकर अपने कर्म का औचित्य ढूंढ निकालता है। बहुधा इस प्रकार जगत् को धोखा देता है, अपने आप को धोखा देता है, ज्ञानाभास की शरण लेकर विचित्र बहाने ढूँढ निकालता है और ऊँचे आदर्शों तथा अन्य सिद्धांतों के पर्दे में अपनी कम-जोरी छिपा लेने का पाखंड रचता है पर अपने को संतोष प्रदान कर ही देता है।

गाड़ी छूट गई होती, या उसे छूट जाने का मैंने मौका दिया होता तो शायद स्वयं भी यही सब करता पर न जाने यह क्यों नही हुआ ? होता कैसे ? यह तो तब होता जब मैं अपने आप में होता ! इतना कतरब्यौत तो तब कर पाता जब बुद्धि अधीन रही होती। पर मै तो उस समय यंत्र की भाँति न जाने किन प्रेरणाओं तथा संयोगों से नियंत्रित था ! नियति का सुदृढ़ और कठोर करपाश मुझे बरबस गरदनियाँ देते हुए भावी की ओर खीचे लिए जा रहा था। बलात् उसने ट्रेन के एक डिब्बे में धम से ला पटका। ट्रेन पकड़ने की उत्तेजना और दौड़ के कारण हृदय स्वयं इंजन हो रहा था और पेट जोर से आँधी की तरह पलही मार रहा था। बैठ भी न पाया था कि ट्रेन भोंपा बजाती हुई चल पड़ी मानो नियति ने मुझ असहाय को अपनी प्रबल चपेट से मनमाना नाच नचाने में सफलता प्राप्त करने का उत्कट दंभ अनुभव किया हो और अपनी विजय पर शंखध्वनि करके मानवजीवन की निर्बलता की सूचना दे दी हो ! ट्रेन मुझे लिए हुए चली। तूफान की भाँति प्रबल वेग से यह गाड़ी मेरे निश्चय अनिश्चय और कर्तव्याकर्तव्य के हृदयगत संघर्ष को क्रूरतापूर्वक पीसती हुई आगे बढ़ी। जब मेरी चेतना लौटी तब मैने देखा कि हुंकार के आकार में प्रवाहित धारा, वाराणसी चरण का प्रक्षालन करती हुई अनंत की ओर वेग से बहती चली जा रही है। गंगा में गति देखी, ट्रेन में गति देखी, डफरिन ब्रिज के लौह और जड़ खंभों मे स्पंदन देखा और प्रकाशवती काशी को भी अपने से दूर पीछे की ओर भागते हुए देखा। जीवन और जगत् का कैसा रहस्य है ? अनंत तथा तीव्र गति चक्र के सिवा और है ही क्या ? जीवन गति है और मृत्यु भी गति की ही एक मंजिल है। सृष्टि गति है और प्रलय भी गति का ही एक स्वरूप है। गति, निरतर और अविश्रांत गति, केवल गति और गति के अतिरिक्त कदाचित् कुछ नहो ! महान् अग्निपुंज भास्कर तथा असख्य तारकावलियों से लेकर लघु से लघु अणु परमाणु तक सब गति के अधीन है। न जाने किस लक्ष्य की पूर्ति के लिये, न जाने किस के संकेत और किसकी प्रेरणा के वशीभूत होकर सब चक्र की

भाँति परिचालित हैं। किसी की समस्या, किसी का रोना हँसना, किसी का दुःख सुख और किसी का 'अहं' अथवा किसी का व्यक्तित्व तिलमात्र भी महत्व नहीं रखता। जीवन और जगत् अपने पथ पर चलता रहा है और शायद निरंतर चलता जाएगा। इस अनंत की अनंत गतिशीलता के अनंत समोहक रूप की छाया निमिष मात्र के लिये मेरे सामने भी झलक उठी, पर तबतक मै मुगलसराय पहुँच गया। बबई मेल सामने खड़ी थी। सोचने विचारने की अब आवश्यकता न थी। मनुष्य मे परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना लेने की असाधारण क्षमता होती है। अभी आध घटे या एक घटे पूर्व किस संकट मे पड़ा हुआ था। अंतस्तल में जो प्रचंड संघर्ष आया उसके आघात और उसकी प्रतिक्रिया से अब भी कलेजा जैसे दबा हुआ था। परन्तु यह सब होते हुए भी जीवननैया जिस धारा में लहराने लगी थी उसी के अनुकूल मैं भी बहने लगा था। किसी ने ठीक कहा है कि काल-प्रवाह सब रोगों की अमोघ औषधि है। थोड़ी देर पहले तुम्हें छोड़ने की बात सोच-कर हृदय में विचित्र प्रकार की ऐंठन हो रही थी। अब वही करके काशी से मीलों दूर आ चुका था। गंगा की उज्ज्वल धारा और उसके तटपर स्थित द्वितीया के चंद्रमा की भाँति अर्धवर्तुलाकार काशी की रेखा को नेत्रों से ओझल होते हुए देख चुका था। बंबई मेल में आसीन था जो हाहाकार करते हुए कुछ ही मिनटों में विंध्य के उन्नत मस्तक की उपेक्षा करके दक्षिणपथ मे प्रवेश करने के लिये कमर कसे खड़ी थी। अपनी नियति और प्रस्तुत परिस्थितियों के चरणों मे झुकने के सिवा मेरे सामने मार्ग ही क्या था? एक बार तुम्हारी बीमारी की आशका से हृदय जैसे डरा, पर उसी क्षण मन ने कहा कि अब भगवान विश्वनाथ पर भरोसा करो। परवश मानव अदृश्य का सहारा लेकर ऐसे ही समय तो संतोषलाभ करता है। फलतः इस सतत गतिशील जगत् का अनुसरण करके गाड़ी भी आगे बढ़ी!

अब आज और अधिक लिखना नहीं चाहता। भावुकता का उद्वेग, स्मृतियों की श्रृंखला को इस प्रकार झनझनाए देता है कि मन की एकाग्रता विचलित हो उठी है। इस स्थिति में आज विश्राम करना ही उचित है।

तुम्हारा
**बाबू**

———:०:———

# २

नैनी सेंट्रल जेल
१५ मार्च, ४३

प्रिय लालजी !

बंबई ! बंबई ने आज इतिहास की रचना कर दी । आज जब यहाँ बैठे बैठे बंबई का स्मरण करता हूँ तब घटनाओं की विचित्र और सजीव तरंगें क्रमश: सामने उठती है और लुप्त हो जाती हैं । कब मैंने यह सोचा था कि उनके आघात प्रतिघात से राष्ट्र का सारा कायापलट हो जायगा । काशी से जब चला तो इतना तो समझ रहा था कि इस देश में भीतर ही भीतर भूगर्भ में ज्वालामुखी धधक रहा है जिसका फूटना एक दिन आवश्यक है । पर बंबई इस विस्फोट का निमित्त बनने जा रहा है यह मै नही समझ रहा था । मै यह भी अनुभव नही कर रहा था कि उसका विस्फोट इतना भीषण, इतना व्यापक और इतना प्रचंड होगा कि भारत वसुधरा एक बार आसमुद्र हिमाचल तक कंपित हो उठेगी ! मानवसमाज के इतिहास का अध्ययन बहुत से तथ्यो पर प्रकाश डालता हुआ जिस बड़ी स्थूल बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है वह है उसके विकास की क्रिया । समाज के अति आरंभिक काल से अबतक की उसकी गतिविधि पर दृष्टि डालें तो ऐसा प्रतीत होता है कि समय समय पर किसी धारा ने तत्कालीन संघटन को आमूल आलोड़ित कर दिया है । वर्तमान की व्यवस्था और उसके बंधन जब समाज की आवश्यकता और उसकी आकाक्षा को पूर्ण नही कर पाते तब उन शृंखलाओ को अपने हाथो तोड़ मरोड़कर चूर कर देने के लिये विचित्र उतावली भी प्रकट होती है । एक छोटे से पौधे को छोटे से पात्र में रोप दिया जाता है । पौधा बढ़ने लगता है और वह पात्र जो एक दिन उसके विकास और उन्नति का कारण होता है दूसरे दिन उसकी आवश्यकता पूर्ण नही कर पाता । एक समय आता है जब वही पात्र जो उसका धारक और उसके जीवन का साधक रहता है उसके लिये अवरोधक पाश के रूप में प्रकट होता है । पौधे के लिये आवश्यक हो जाता है कि उस गमले को चूर करके वह अपने जीवन के लिये अधिक व्यापक, अधिक अनुकूल और अधिक उपयोगी स्थिति ढूँढ़ निकाले ।

समाज की भी कुछ यही दशा होती है । एक दिन जिस बंधन और व्यवस्था को वह स्वयं अपने हित के लिये स्वेच्छा से निर्मित करता है उन्हें ही समय आने पर क्रूरतापूर्वक विच्छिन्न करने के लिये आगे बढ़ता है क्योंकि आज का विद्रोही कल पथ का अवरोधक और प्रतिगामी हो जाता है । अपने जीवन की रक्षा के लिये उसे यह निष्ठुर कर्तव्य पूरा करना अनिवार्य होता है । यही धारा है जो विकास की क्रिया की ओर संकेत करती है । इस तोड़फोड़ मे जो बाधक होते है उनसे उन तत्वों का

संघर्ष अनिवार्य होता है जो वर्तमान को उन्मूलित करके नवीन की स्थापना के लिये अग्रसर होते हैं। यह संघर्ष ही क्रांति है। क्रांति संभवतः प्रकृति का अटल और अटूट नियम है। उसका धर्म और सहज स्वभाव है। इसी के द्वारा वह जगत् का संचालन, नियमन और विकास करती जाती है। इसमें संदेह नहीं कि विकास की इस प्रक्रिया की व्याख्या करो तो उसका जो वास्तविक रूप सामने आता है वह भीषण होता है। वह वास्तविक रूप एक ओर विनाश और दूसरी ओर निर्माण के रूप में भासमान होता है। एक को नष्ट करके ही दूसरे का सृजन किया जाता है। छोटे से बीज का नाश होने के बाद ही अंकुर अपना मस्तक बाहर कर पाता है जो कालांतर में चलकर फलच्छायासमन्वित महावृक्ष का रूप धारण करता है। विनाश और निर्माण की यह लीला निरतर रूप से, एक क्षण भी रुके बिना, अनादि-काल से चरितार्थ होती आ रही है और संभवतः तबतक होती जायगी जबतक जगत् है। इसका रुकना संभव नहीं है। यदि कभी रुकेगी तो उसका अर्थ होगा इस समस्त विधिप्रपंच का लोप! यही क्रिया सृष्टि की सजीवता का चिह्न है। सारे चराचर जगत् का जीवन इस नियामक नियम के अधीन मालूम होता है।

बंबई ने यह सिद्ध कर दिया कि यह बूढ़ा भारत, इसकी पुरानी संस्कृति और इसके शोषित तथा दलित राष्ट्रदेह मे वही अविरल धारा नवरस और नव-जीवन का सचार कर रही है। उसके लिये यह समय नही रह गया कि वर्तमान दासता, बंधन तथा उत्पीड़न के गलाघोंटू शिकंजे मे अब एक क्षण भी पड़ा रहने के लिये सहमत हो जाय। जो है उसे पैरो के नीचे रगड़कर धूल में मिला देने तथा उसी पर अपने भविष्य के भव्य भवन को खड़ा करने के दृढ सकल्प की आग भीतर ही भीतर धधकने लगी थी। बंबई ने मुझे उसी भयावनी ज्वाला का दर्शन करा दिया।

मैं काशी से हृदय पर बोझ लिए हुए बंबई पहुँचा। पर वहाँ पहुँचते ही मन में विचित्र परिवर्तन की अनुभूति हुई। मुझे ऐसा आभास हुआ, मानो सारा वायु-मंडल किसी प्रकार के विद्युदावेग से आच्छन्न है। जिस ट्रेन से मैं बंबई गया था उसमें युक्तप्रांत तथा बिहार के कतिपय प्रतिनिधि भी जा रहे थे। प्रयाग में समिति के कई सदस्य भी साथ ही डिब्बे में आसीन हुए। किसी में मैंने रंचमात्र भी उस वाता-वरण की छाया नहीं देखी जिसका अनुभव वहाँ पहुँचते ही हुआ। काल का प्रवाह आगे बहता जाता है और जो सावधानी से उसके साथ स्वयं प्रवाहित होने के लिये सतर्क नहीं रहते वे पीछे छूट जाते हैं। आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि हममें से अधिकतर लोग सचमुच परिस्थिति की वास्तविक गति से परिचित न थे। ट्रेन में हम यह कल्पना भी नहीं करते थे कि आज से ७२ घंटे के बीतते बीतते देश के वक्षस्थल पर दुर्धर्ष वेगवान झंझावात घहरा उठेगा, जिसके मध्य में भयावनी विभीषिका उल्लंगिनी नृत्य करती दिखाई देगी। हममें से कितनों ने सोचा था कि देश के अंधकाराच्छन्न आकाश में अपनी लाल जिह्वा से रक्तपात करती हुई महाकाली विद्युच्छटा की भाँति चपल तांडव करेगी और उसके एक एक चरण-विक्षेप से लय और स्वरों की वह लहरी निकल पड़ेगी जो भारत के भविष्य का सृजन करने के लिये वर्तमान के विनाश का मंत्र फूँक देगी। इस आगत महा विस्फोट

की पूर्व सूचना विक्टोरिया टरमिनस स्टेशन के प्लेटफार्म पर पैर रखते ही जैसे मिलने लगी। यह न समझना कि हममें से किसी ने किसी से कुछ कहा। कहने सुनने की कोई आवश्यकता ही क्या थी ? एक आभास, एक स्पंदन, एक संकेत, एक सनसनाहट वायुमंडल में व्याप्त थी जिसकी अनुभूति हृदय करने लगा। आज मैं उसका वर्णन लेखनी के द्वारा करने में समर्थ नहीं हूँ। अनुभूति का वर्णन कदाचित् किया ही नहीं जा सकता। वह तो भाषा की सीमा से परे है अतएव वर्णनातीत है। अनुभूति का अनुभव ही होता है; उसका स्वाद ही लिया जा सकता है और उसी में वास्तविक रस मिलता है। जन्मांध को चंद्र ज्योत्स्ना के शुभ्र और धवल रूप का ज्ञान भला शब्दों के द्वारा क्या कभी कराया जा सकता है ?

३० घंटे की यात्रा समाप्त करके हम पहुँचे थे। मध्याह्न हो चला था। दो घंटे बाद ही सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हो नेवाली थी। प्रश्न था इस थोड़े समय में ही निवासस्थान पर पहुँचकर नित्य नैमित्तिक कार्यों से फुर्सत पा लेना और ठीक वक्त से समिति के अधिवेशन में पहुँच जाना। मनुष्य का बहिर्मुख स्वभाव हृदय के तारों से निर्गत सांकेतिक शब्दों की ओर प्रायः ध्यान ही नही देता। जीवन के गूढ़ और तात्विक मुहूर्तों पर मानवहृदय का चैतन्य उसी प्रकार भुकभुक करके जलता और बुझता है जैसे बटन दबाकर और पुनः उसे छोड़कर कोई बैटरी-वाला टार्च जलाता और बुझाता हो। पर छानाछन जल उठनेवाले इस सिगनल की ओर हम ध्यान ही कब देते है ? मैं भी साधारण मन और भाव से सब काम से फुरसत पा अधिवेशन के लिये निर्मित उस विशाल मंडप की ओर चल पड़ा। बंबई में गमनागमन के लिये ट्राम की बड़ी भारी सुविधा है। न एक्के ताँगेवालों से मोलभाव करने की आवश्यकता पड़ती है, न खिचखिच और न यही सुनना पड़ता है कि 'बाबूजी, दूसरी सवारी खोज लीजिये'। ट्राम के स्टेशन पर चले जाइए। सड़कों पर उसके खंभे सूचनाबोर्ड के सहित गड़े खड़े हैं। ट्राम वहाँ आकर खड़ी होती है। आप चुपके से बैठ जाइए और गाड़ी चल देगी। धीरे से टिकटवाला आपके निकट आएगा। जहाँ जाना हो वहाँ का नाम बता दीजिए। टिकट मिल जायगा और निर्धारित पैसे ले लेगा। झगड़े झंझट से पाकसाफ अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच जाइए। हम लोगों ने भी ट्राम की शरण ली और ग्वालिया टैंक की ओर चल पड़े।

बंबई यों ही जनाकीर्ण नगर है। भारत के नगरों में कदाचित् यह सबसे अधिक विशाल और लक्ष्मी की लीला से लोल है। धरातल से अति ऊँची गर्व से मस्तक उठाकर पृथ्वी की ओर उपेक्षा के साथ देखती हुई विशाल अट्टालिकाओं की शोभा अपनी महिमा से हृदय को प्रभावित करती रहती है। लाखों और करोड़ों नरनारियों के अविश्रांत श्रम से उपार्जित संपत्ति का अधिकारी बनकर एक वर्ग विशेष किस प्रकार भूमि को भोगपूर्ण बना लेता है इसका अच्छा उदाहरण बंबई है। क्रमबद्ध आती जाती मोटरों की कतार में बैठे नरनारियों के मुख पर स्वपूजा और तृप्ति तथा विलास की विचित्र आभा देखना कठिन नहीं होता। वर्तमान पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति के इन दुलारे सपूतों के हाथ में ऐश्वर्य, वासना और भोग की उस आग की लौ पारदर्शी दृष्टि के सामने झलक उठती है जो बाह्य के

आडंबर का भेदनकर भीतर प्रवेश करने की क्षमता रखती है। स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इन प्राणियों को अपने समाज के उन अभावों का कोई परिज्ञान नहीं है, जो दिनरात मेहनत मजदूरी करके भी अपने बच्चों की भूख मिटाने में समर्थ नहीं होते। अपनी माँ के सूखे स्तन के निर्जीव चमड़े को मुँह में डालकर चूसनेवाले और अपनी लार को पीकर उसे ही माँ के हृदय का नीर माननेवाले ये दुधमुँहे, कोमल बालक अपनी अँतड़ियाँ को गलाकर किस प्रकार इहलीला समाप्त करते है इसका पता श्री की गोद में उन्मत्त बिहार करनेवाले इन धनपशुओं को भला कैसे हो सकता है। मानवता के ऊँचे आदर्श, न्याय की भावना, धर्म के पुनीत सिद्धांत, विज्ञान के आश्चर्य-जनक आविष्कार सब मानो इन दलित अभागो के लिये कोरी बकवाद के सिवा और कुछ नही हैं। मंदिरों में स्थापित पत्थर की देवप्रतिमाएँ इनकी उपेक्षा करती है, मसजिदो के कंगूरे इनपर हँसते है और गिरजे के गुंबज आकाश में नीहारिकाओ से होड़ लगाते हुए इनकी स्थिति पर निष्ठुरतापूर्वक नाक सिकोड़ लेते हैं। पादरियों, मौलवियो और पंडितों तथा धर्माध्यक्षो का एक रोआँ भी चिन्मय के इन पुनीत मंदिरो के पदस्थल पर विकल नहीं होता। जड़ विज्ञान तो इन्हें अपनी चक्की का घेवन समझता है। रह गया मानवहृदय, उसकी कोमल भावनाएँ और ऊँचा आदर्शवाद! ये तो कदाचित् तभी मर गये और लुप्त हो गये जब विलास की पूजा और भोगो की तृप्ति जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया। अपने सुख के लिये मानव मानव का कलेजा फाड़ खाए और चुल्लू भर खून उदर में से निकालकर पी ले और फिर तृप्त होकर करे विकराल अट्टहास! जाने दो इस घृणित लीला को, और इसे यहीं छोड दो।

मैं जनाकीर्ण बंबई में ट्राम पर बैठा ग्वालिया टैंक की ओर जा रहा था। धूम मची हुई थी सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन की। अधिकतर जाने-वालों का मुख उसी ओर था। कोई तमाशबीन था, कोई दर्शक था, कोई नेताओं का दर्शनाभिलाषी था, कोई दूकानदार था जो कुछ बेचकर स्थिति से लाभ उठाना चाहता था। जिसे देखिए ग्वालिया टैंक की ओर। किसी को भी यह मालूम नहीं था कि जिसे आज वह तमाशा समझ रहा है, वही कल हो जायगी प्रज्वलित अग्नि की भयावनी रक्तजिह्वा जिसे देखकर कलेजा काँप उठेगा। थोड़ी देर मे मैं भी मंडप के विशाल मुखद्वार पर पहुँच गया। भीड़ अपार थी। भीतर प्रवेश करना पूरी कुश्ती लड़ना था। स्वयंसेवको का दल मार्ग का निर्धारण कर रहा था पर उनकी विनती कौन सुने! गुलामी से पतित हुए भारतीय विनती और अनुनय के सामने झुकना अपमानकारक समझते है। हम पृथ्वी के उन गिरते हुए लोगों मे हैं जो ठोकरों का महत्व समझते हैं। मैंने देखा है कि भीड़ मे, मेले तमाशो में, पर्व पर और मंदिरों में संमानपूर्वक सेवा करनेवाले स्वयसेवक की विनती और उसके निर्धारित नियम हमे क्षुब्ध कर देते है। उनसे भिड़ जाने में और यदि संभव हो तो अर्धचंद्र का आरोपण कर देने में ही हमे अपने अहभाव की तृप्ति प्राप्त होती है। पर वही हम पुलिस के कोड़ो और गालियो तथा कभी कभी ठोकरो को मस्तक पर धारण करके अपने को कृतकृत्य समझते हैं। फिर न जाने कहाँ से नियमपालन

और सौजन्य टपक पड़ता है। यह है उस दासता का परिणाम, जिसने हमें मनुष्यता के स्तर से नीचे गिरा दिया है।

इस परिणाम को भोगता हुआ, दम घुटवाता, पीठ और पसली की हड्डी को कुचवाता हुआ किसी प्रकार भीतर पहुँच ही गया। आगे बढ़कर मंडप में घुसा। बरसात का दिन था इसलिये फूस की मोटी टट्टरों से सभामंडप का निर्माण किया गया था। पृथ्वी आर्द्र थी, अतः बैठने के लिये कुर्सियों का प्रबंध था। ऊँचे मंचपर नेतृवृंद आसीन था। मंडप में ज्योंही कदम रखा वैसे ही वहाँ के गंभीर, भारयुक्त और महिमार्चित वातावरण के बोझ से दब सा गया। पचीसों हजार नर नारी वितान के नीचे बैठे हुए थे। सबके मुखमंडल पर वैसा ही भाव था जैसा किसी देवप्रतिमा के सामने नतमस्तक पुजारी के मुख पर दिखाई देता है। इस गंभीरता का कारण सहसा स्पष्ट हो गया। मंच की ओर दृष्टि गई और देखा कि मध्य में गाँधीजी आसीन है और उनके चतुर्दिक् कार्यसमिति के सदस्यगण बैठे हुए है। मौलाना की धीर किंतु समर्थ मूर्ति, जवाहरलालजी की तेजस्विनी किंतु कोमल कल्पना के समान कमनीय, कांतिमयी, अलौकिक शुभ्र शोभा, सरदार की शात परंतु जगत् को तृणवत् समझती हुई भृकुटि की छटा ने अजब समा बाँध दिया था। इन प्रकाशमान उज्ज्वल नक्षत्रों की आभा के मध्य प्रकांड प्रभापुंज भास्कर की भाँति वह तप.पूत काया स्थित थी जिसके हाथों में भारतीय राष्ट्रवाद की नैया की पतवार है। गाँधीजी के ओठों की मुस्कुराहट उनके अंतस्तल के आनंदो-दधि की तरंगो का प्रतीक थी। उनके तेजस्वी नेत्रो मे करुणा की लाली उत्पीड़ित और निर्दलित मानवता की वेदना प्रतिबिंबित कर रही थी। भृकुटियों में पड़े बल उस लोकोत्तर महामानव की अंतरज्योति की ओर संकेत कर रहे थे जो उसे इस भौतिक जगत् की सीमा से कहीं दूर, उस पार देखने में सहायता प्रदान करती है और विशाल ललाट की स्पष्ट रेखाएँ गंभीर चिंतन और सत्यानुभूति की सूचना दे रही थीं। समस्त प्रस्तुत दृश्य तथा अदृश्य उपकरणों का घातप्रतिघात वातावरण को विचित्र निस्तब्धता, गंभीरता और भयोत्पादकता प्रदान किए हुए था।

अच्छी तरह याद है कि वातावरण में कुछ ऐसा रोब, ऐसा दबदबा छाया हुआ था कि मंच के सामने से उस पार जाकर अपने लिये एक आसन ढूँढ़ने में मुझे संकोच हो रहा था। किसी प्रकार झुककर उधर निकल गया और जल्दी से एक कुरसी की शरण ले ली। एक बार पुनः ध्यान से अपने चारो ओर देखा। देखा कि पत्रकारों की महती मंडली डटी हुई है। अनेक श्वेतांग पत्रकारों को देखकर उनके संबंध में पास खड़े बंबई के एक प्रसिद्ध कार्यकर्ता से जिज्ञासा की। उन्होंने बताया कि अमेरिका और इंगलैड के अनेक विदेशी पत्रकार डटे हुए है। बहुतों के गले में कैमरा लटक रहा था, हाथ में टाइपराइटर था। अनेक महिला पत्रकारों के भी दर्शन हुए। चीन के भी दो चार अखबारनवीस और संवाददाता दिखाई दिये। इस देश के मेरे हमपेशा तो थे ही। सभामंच के बिल्कुल सामने बने हुए प्रांगण में हम सदस्यगण स्थित थे। देखा कि सदस्यों की असाधारण उपस्थिति है। इसके पूर्व के कतिपय अधिवेशनो में इतनी अधिक संख्या में उपस्थित सदस्यों को

देखने का सौभाग्य कदाचित् बहुत दिनो से नही मिला था। प्रागरण के दाहिने, बाँये और पीछे बंबई के दर्शनार्थी नागरिकों की अपार भीड़ बैठी हुई थी। युवक युवतियाँ, वृद्ध, नरनारी सभी थे। पत्रकारो मे जिज्ञासा और उत्सुकता देखी, सभासदों मे गभीरता और आगत समय के संबंध में संशय, किंतु संकल्प देखा और दर्शनार्थियों में से अधिकतर का मुँह उनके सहज कौतूहल भाव और आश्चर्य का दिग्दर्शन करा रहा था।

मैं बंबई के संबंध में बहुत कुछ लिख गया। महीनों बीत चुके है पर आज जब स्मृति जाग उठी है तब उस अध्याय के पृष्ठ के बाद पृष्ठ मेरे नेत्रों के संमुख मानो अनावृत होते जा रहे है। एक एक घटना स्पष्ट झलक रही है। उस समय की बाते आज क्यों लिख रहा हूँ नहीं जानता। मालूम नही इस वर्णन से तुम्हारा कुछ मनोरंजन भी होगा या नहीं। पता नही यह लंबा व्याख्यान तुम्हारे जी ऊब जाने का कारण तो न होगा? पर जो हो मैं तो प्रवाह मे लिखता ही गया। अब चेष्टा करूँगा कि बंबई का अध्याय शीघ्र ही समाप्त करूँ। मुझे आज ऐसा लगता है कि मैं बंबई जा सका यह अच्छा ही हुआ। मैंने वहाँ जो अनुभव किया वह मेरे जीवन की असाधारण घटना के रूप मे जीवनपर्यंत वर्तमान रहेगी। मैंने देखा कि जन-महासमुद्र जब कभी विक्षुब्ध होता है तब कैसा विकराल रूप धारण करता है। राष्ट्र जब जीवन की रक्षा के लिये आग में कूदने का संकल्प करते है तब वे किन अदमनीय भावनाओं और स्फूर्ति की उत्ताल तरंगो में हिलोर लेने लगते है इसका साक्षात्कार करने का अवसर जीवन मे एकाधिक बार ही मिला करता है। ऐसे मुहूर्त होते हैं जब विशाल जनसमूह इतिहास का निर्माण करते है, जो आनेवाली संतति के जीवन को प्रभावित कर देता है। भारत में आनेवाले प्रलयंकर राजनैतिक भूकंप का पूर्वरूप कितना बिराट पर कितना उल्लासप्रद था। संभव है आज उसका महत्व न मालूम हो पर मुझे तनिक भी संदेह नही है कि उसने सारे राष्ट्रदेह को जिस प्रकार आपादमस्तक आलोड़ित किया है वह इस देश के सहस्राब्दियों के इतिहास में एक नया किंतु गौरवपूर्ण अध्याय जोड़ देने में समर्थ हुआ है।

मैं समझता हूँ कि तुम श्रांत हो जाओगे। कहानी ही क्यों न हो धीरे धीरे सुनाना अच्छा होता है। उससे और सुनने की उत्सुकता बनी रहती है। आज यहीं बस!

तुम्हारा
बाबू

——:०:——

# ४

नैनी सेंट्रल जेल
१५ अप्रैल, ४३

प्रिय लालजी !

पिछले पत्र में बंबई की कहानी कह रहा था और कहते कहते बीच में ही उसका सूत्र टूट गया। गाथा एकबारगी लंबी होकर तुम्हें थका न दे इस कारण उसे एक सीमा में ही रोक रखना उचित जान पड़ा; पर कहानी को अधूरी छोड़ना नहीं चाहिये और मैं स्मृतियों की शृंखला भी छिन्न करना नहीं चाहता। साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि यह कहानी तुम्हें रोचक लग रही होगी। मैं तुम्हारी रुचि और स्वभाव से परिचित हूँ। किस्से कहानी और उपन्यास पढ़ने में तुम्हें बड़ा रस मिलता है। सिनेमा देखने के तो भक्त ही हो। रेडियो सुनने और अखबार पढ़ने तथा आज की दुनिया का हाल जानने मे भी तुम्हारी दिलचस्पी है। ये बातें मुझे विश्वास दिला रही है कि यह छोटी सी कहानी तुम्हारा मनोरंजन करेगी और तुम इसे चाव से पढोगे। फलतः मैं लिख चलता हूँ और तुम पढ़ चलना।

मै तुम्हें बंबई के सभामंडप में, नेताओं और सदस्यों, दर्शनार्थियों और पत्रकारों के साथ छोड़ आया था। वह मंडप, जो रंगबिरंगी पुष्पमालाओं से सुसज्जित था, जिसमें तिरंगी झंडियाँ लहलहाती हुई उसकी शोभा बढ़ा रही थी, व्याख्याताओं का स्वर दूर तक श्रुतिगोचर हो सके इसलिये लाउडस्पीकर के दर्जनों भोंपे मुँह बाए टँगे हुए थे। सैकड़ों बिजली के पंखे लटकते हुए जोर का चक्कर काट रहे थे मानों अपने कर्मपाश से अधर में झूलता हुआ त्रिशंकु योगचक्र में सिर धुनता हुआ घूम रहा हो। रंगबिरंगे विद्युत बल्ब जलकर व्यापक शून्य में अपनी झिलमिल छटा दिखानेवाले नक्षत्रों के गुच्छे की शोभा मात करने के लिये उत्सुक दिखाई दे रहे थे। विविध प्रकार के रंगीन परिधानों से आवृत फैशनेबल महिलासमाज उसी प्रकार सुशोभित था जिस प्रकार सुंदर वाटिका की सुघड़ क्यारियों में विकसित कुसुम-कलिकाएँ अपने सौरभ और मधुरिमा से मोहकता तथा सौंदर्य की सृष्टि करती दिखाई देती हैं। पर यह सब था बाह्याडंबर जिसके अदृश्य अंतस्तल में एक आग सुलग रही थी, जिसका दर्शन अभी नहीं हुआ था। शस्यश्यामला, रसप्रसविनी और धीरगंभीरा पृथ्वी के गर्भ में धधकनेवाली ज्वाला की कल्पना भी भला कौन, कब और कहाँ कर पाता है ?

पर समय आता है जब रसा भी जलते अंगारों को उगलने के लिये बाध्य होती है। ज्वालामुखी फूट पड़ते हैं, धधकते शोले आकाश तक उड़ते दिखाई देते हैं और पृथ्वी का कलेजा जलकर अपने परिताप से अपने निकटवर्ती सगेसंबंधियों को भस्मीभूत करता दिखाई देता है। अपने ही आवेग से धरातल समस्त अचल गिरि-

शृंगों और अगाध महासमुद्रों को लिए दिए काँप उठता है। चारो ओर विक्षोभ, हाहाकार, चीत्कार और त्रास परिव्याप्त हो जाता है। यही क्षण है जो सृष्टि के हृदय में निहित हलचल, उथलपुथल और क्राति के तत्व की ओर संकेत करता है। यह विस्फोट होता है अपने ही रूप मे उलटफेर कर देने के लिये। इसे ही क्रांति कह सकते है। अंततः यह उलटफेर ही तो विकास का मूर्तरूप है। जो था वह गया और उसके स्थान पर दूसरा आया। यह न समझना कि क्रांति कोई आकस्मिक घटना है जो दैवात् घट जाती है। वह संयोग नही बल्कि वह तो प्रक्रिया है जो निरंतर कार्यशील अनेक कारणो के परिणाम के रूप मे प्रकट होती है और पुनः स्वयं किसी कार्य अथवा किसी परिणाम का कारण बन जाती है।

बंबई भारत के इतिहास मे घटित होनेवाले उसी महाविस्फोट का निमित्त बनने जा रहा था। गाँधीजी उस प्रचंड और अंतःप्रज्वलित भयावने ज्वालामुखी के रूप में वर्तमान थे जो भारतभूमि के हृदयदाह को बाहर निकाल कर समस्त वायुमंडल को विक्षुब्ध करनेवाला था। शताब्दियों से यह देश अपमान, दलन, शोषण और उत्पीड़न से त्रस्त है, पर उसे अपनी इस दयनीय स्थिति का जैसा बोध आज हुआ वैसा कदाचित् पहले कभी नही हुआ था। व्यापक और सामूहिक भाव से हुआ यह साक्षात्कार गहरे अंतर्दाह का कारण था। महायुद्ध भयानक तूफान की तरह पृथ्वी के एक कोने से उभड़ा और सारे विश्व पर छा गया। युद्धो का फूट पड़ना भी कोई आकस्मिक घटना नही है। यह भी बहुत से कारणो का परिणाम है। उसे किसी मूल रोग का उपसर्ग समझना चाहिए और इसी रूप में जब देखोगे तब उसका वास्तविक रूप समझ में आएगा। वर्तमान महायुद्ध जगद्व्यापी महा-उत्क्राति का ही प्रतीक है, जो समस्त आधुनिक स्थापित व्यवस्था को समाप्त करने के लिये प्रकट हुआ है। इसे समझने के लिये तुम्हें थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा। पत्र की धारा को थोड़ी देर के लिये दूसरी ओर मोड़ता हूँ।

आज से दो सौ वर्ष पूर्व योरप में ज्ञान की एक नई धारा प्रवाहित हुई। तब तक मानव समाज ने अपनी विकास की यात्रा में जिन सत्यों का पता पाया था, उससे बिल्कुल अभिनव और भिन्न मौलिक तत्वों को ढूँढ़ निकालने में पश्चिम के लोग सफल हुए। उसी नवीन ज्ञानज्योति को हम विज्ञान कहते है। वैज्ञानिक ज्ञान ने मानव-समाज को नया दृष्टिकोण और नया जीवन प्रदान किया। उसने उनमें नई जाग-रुकता और असाधारण सक्रियता तथा अलौकिक बल संचरित कर दिया। इस वैज्ञानिक ज्ञान ने मनुष्य के सामने प्रकृति के अनंत पट एक के बाद दूसरे खोल दिए। मनुष्य ने तब तक महा प्रकृति की अदृश्य लोकोत्तर शक्ति की लीला को देखकर अचभा ही प्रकट करना सीखा था। बादलो की प्रचंड गड़गड़ाहट के बीच चमककर लुप्त हो जानेवाली बिजली की कौंध से मनुष्य चकित होता था। कभी उसके भय से त्रस्त होता था, कभी उसे उसमें अनुपम सौंदर्य का आभास मिलता था।

घुमड़ घुमड़ कर एकत्र होनेवाली मेघमाला, सूर्य का उज्वल प्रकाश, प्राण-दायक पवन, महासमुद्रो की अत्यंत जलराशि, पर्वतो के हृदय से हाहाकार करते हुए हहर कर गिरनेवाले झरनो और पृथ्वी की उर्वरता तथा उसके रत्नगर्भित स्वरूप का ज्ञान मनुष्य को पहले भी था। ये समस्त उपकरण उसके जीवन के लिये

सहायक थे। इनकी विचित्रता उसके मानस क्षेत्र में प्रतिबिंबित होकर उसे भावुक बनाने में सफल होती थी। तब तक वह इस रंगबिरंगी दुनियाँ के पीछे किसी अदृश्य विभु की लीला और उस चितेरे की कलामात्र की अनुभूति करता था और आदर से नतमस्तक हो जाता था। अपनी ससीमता देखकर आँख मूँद लेता था। ऊषा की लाली और चपला की चमक, जलनिधि की गंभीरता तथा कादंबिनी की मोहकता कविहृदय की कला का विषय तो बना पर उनका उपयोग इससे अधिक भी किया जा सकता है इसका ज्ञान मनुष्य को इस वैज्ञानिक युग में ही हुआ। उसके सामने महिमामयी, महाशक्तिशालिनी प्रकृति का एक और पहलू भी प्रकट हुआ। उसने देखा कि मानव अपनी बुद्धि तथा मौलिकता के बल पर इस अनंत शक्तिस्रोत से बहनेवाली धारा का उपयोग करके महान् ऐश्वर्य का अधिकारी भी हो सकता है। उसके जीवन का विस्तार अकल्पित रूप से बढ़ जा सकता है और जिन संपदाओं की कल्पना भी नहीं की जा सकती थीं वे सहज ही उसके चरणों मे लोटने लग सकती हैं।

कोयला, लोहा, आग, पानी, भाप, धुँआ, सूरज, बिजली आदि पदार्थ, जो अबतक प्राकृतिक शक्ति के प्रतीक मात्र थे, मनुष्य के सामने अब नए रूप मे आए। उसने इनका कुछ और उपयोग करने की कला जान ली और देखा कि यह नई तरकीब उसे असाधारण शक्ति और क्षमता प्रदान करने में समर्थ है। इस वैज्ञानिक ज्ञान के फलस्वरूप योरोप में अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति हुई। मनुष्य के जीवन, उसके रहनसहन, उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक था। जिस ज्ञान ने उसे प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार स्थापित करने और उसका उपयोग तथा नियंत्रण करने का ढंग सुझा दिया वह सारे सामाजिक जीवन के अंगप्रत्यंग को प्रभावित करे तो आश्चर्य क्या है? तुमने रामायण में रावण की लंका के संबंध में पढ़ा होगा। कहते है कि उसका ऐसा प्रभाव था कि उसके डर से पवन देवता लंका में झाड़ू दिया करते थे, अग्निदेव उसे गरमी प्रदान करते थे, चंद्र उसकी सभा में प्रकाश पहुँचाते थे। रावण की लंका में यह सब होता था या नहीं यह तो भगवान ही जाने पर आज तो समस्त मानवसमाज समान रूप से प्रकृत देवों से अपनी सेवा कराने में समर्थ है। जब चाहो तब पवन देव मंद समीर प्रदान करें, अग्निदेव गरमी पहुँचाएँ, विद्युल्लता प्रकाश प्रदान करे। प्रकृति चेरी की भाँति मनुष्य की सेवा में तल्लीन है। उत्पादन और गमनागमन के साधनों में हुए असाधारण परिवर्तन ने पृथ्वी का स्वरूप ही बदल दिया है। सारा जगत् एक सूत्र में आबद्ध हो गया। मानो प्रकृति ने मनुष्य की गोद में महती विभूति उड़ेल दी है।

पश्चिम में नए नए कल कारखाने उठ खड़े हुए। कोयला, लोहा, आग, पानी और भाप का उपयोग करके उत्पादन की सारी क्रिया ही बदल दी गई। पदार्थों का निर्माण मनुष्य महीनों मेहनत करने के बाद कर पाता था। अपने हाथ और दिमाग की कारीगरी से वह सामान तैयार करता था, पर जो चीजें अब तक थोड़े परिमाण में महीनों का समय लगने के बाद बन पाती थीं वे अब मिनटों में ढेर की ढेर बनने लगीं। धीरे धीरे इतना माल बनने लगा कि मनुष्य उसे खपाने में भी समर्थ न होता। ज्ञान का यह नया प्रकाश पहले योरोप के ही अंतरिक्ष पर उदीयमान हुआ। फलतः योरोप के प्रदेश कल कारखानों से भरने लगे और उनके द्वारा उत्पा-

दित पदार्थों से पटने लगे। एक समय ऐसा आया जब वैज्ञानिक जीवन इतना विस्तृत हुआ कि योरोप की भूमि उसके लिये काफी न रह गयी। आवश्यकता हुई कि उस परिधि से बाहर निकलकर पृथ्वी के दूसरे अधिक विस्तृत स्थानों में साँस लें। इस स्थिति का आना आवश्यक था। जिन देशो में कल कारखाने बने, उन्होंने पहले अपने देश की सीमा मे रहनेवालो को अपने कारखानों से बने माल से परितृप्त किया। पर माल की उत्पत्ति इतनी होने लगी कि देशवासियों की जरूरत को पूरा करने के बाद भी मिलमालिको और कारखानेदारों का गुदाम रीता न होता। तब योरोप से भी बाहर जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। गमनागमन के नए तरीके विज्ञान ने ही सुझा दिए, नए नए तरह के अस्त्रशस्त्र भी उसकी कृपा से बनने लगे थे। नए ज्ञान का जोश, नई दीप्ति और नया बल लेकर योरोपियन पूँजीवादी देशों के विधाता निकल पड़े। अब उन प्रदेशो की पारी आई जहाँ योरोप के विज्ञान की आभा भी अभी पहुँची न थी। पहले वहाँ का व्यापार किया जाने लगा। पर बाद मे देखा गया कि सफलतापूर्वक व्यापार करने के लिये आवश्यकता है उन प्रदेशो को अपने अधीन करने की। योरोप के एक नही अनेकों देश क्रमश: व्यापारक्षेत्र ढूँढ़ने लगे। परस्पर की प्रतिस्पर्धा तो अनिवार्य थी ही। दुनियाँ की वे मंडियाँ जहाँ एक अपना माल खपाता, अपने ही लिये सुरक्षित रखना चाहता। किसी दूसरे प्रतिद्वंद्वी का प्रवेश उसे वाछनीय नही था। फलत: आवश्यकता प्रतीत हुई कि उन मंडियों अथवा प्रदेशो को अधीन करके अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया जाय।

ऐसा करने में अधिक कठिनाई भी न थी। जो प्रदेश अब तक विज्ञान की नई लहर से सिंचित नहीं हुए थे, वे नवशक्तिसंपन्न, जागृत तथा नवोत्थित राष्ट्रों के सामने टिक कैसे पाते? एक ही दो धक्के में वे चरणों में लोटने लगते। इसी प्रकार उपनिवेशों की स्थापना हुई। भारत भी इसी लिप्सा का शिकार हुआ। अठारहवीं शताब्दी के भारत के इतिहास की ओर देखो और उसी समय की दुनियाँ पर नजर डालो तो स्पष्ट हो जायगा कि यह क्रिया किस प्रकार चरितार्थ हुई। भारत में कतिपय विदेशी शक्तियाँ मैदान में उतर पड़ी थीं। पोर्चुगीज, ओलंदेज, फरासीसी, अंग्रेज आदि हजारों मील की यात्रा करके और अगम्य महासागरों का संतरण करते हुए यहाँ आये थे और वर्षो तक परस्पर चढ़ाऊपरी करते रहे। पर इस कशमकश में और सब टिक न सके। अठारहवी शती में धीरे धीरे अंग्रेजों का पैर जमने लगा। उनमें उत्साह था, नया जीवन था, नई विचारधारा की उत्प्रेरणा थी, नए ज्ञानप्रकाश से पथ आलोकित था, नई सभ्यता और संस्कृति का बल था। जागरूकता थी, अपना काम कर डालने का दृढ़ संकल्प था, बुद्धि थी और खतरे उठाने तथा विघ्नबाधाओं और कष्टों का सामना करने का अदमनीय साहस था। नए साधन उपलब्ध थे, नए तरीके और नए अस्त्रशस्त्र से संपन्न और सुसज्जित थे। उनके देश मे बहनेवाली नई ज्ञानगंगा उन्हें नई नई सिद्धियाँ प्रदान करती जा रही थी। और यहाँ! यहाँ पतन का वह प्रवाह जो हर्षवर्धन के बाद आरंभ हुआ था अपनी चरमता को पहुँच रहा था। यह सच है कि हमारी सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी थी। भारत ने दुनिया देखी थी, अपने ज्ञानविज्ञान से जगत् में पुनीत

सांस्कृतिक धारा बहाकर मानवता के विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। एक समय उसने जगत् के सामने जीवन के आदर्शों और उसके गुह्य तत्वों को आँकने के लिये मूल्यों का मापदंड स्थापित किया था। गंगा और सिंधु के तट पुनीत ज्ञान-गगिरमा से सजीव थे। आर्यावर्त विश्व के श्रेष्ठीकरण की महत्वाकाक्षा से प्लावित था। उस समय के भारत मे आँख खोलकर और सिर उठाकर अपने चारों ओर देखने की शक्ति थी। उसमें सचेष्टता थी, ज्ञान की पीपासा थी और जीवन का समुचित उपयोग करने की क्षमता थी। वह जगत् से आदानप्रदान करने के लिये तैयार रहता था। सत्य की खोज के लिये उसकी उत्कंठा असीम थी। वह जानता था कि किसी एक काल में, किसी एक स्थान मे रहनेवाला चाहे कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, यह दावा नहीं कर सकता कि उसने जो कुछ कह दिया वही सत्य का अंतिम और अशेष स्तर है। वे सत्य के इस तत्व का अनुभव करते थे कि सत्य का स्वरूप निसीम है और मानवता जब तक रहेगी तब तक पदे पदे आगे बढ़ती जाएगी और नए नए रहस्य उद्घाटित होते रहेगे। यह क्रिया कभी समाप्त न होगी और न वह समय कभी आ सकेगा जब मनुष्य समाज यह कहे कि अब उसे कुछ और जानना तथा देखना बाकी नहीं रह गया। आगे की ओर उसकी इस प्रगति और महायात्रा मे ही उन्हें मानवजीवन की चरम सार्थकता अभिज्ञात थी। उनमें सदा जागते रहने और जिज्ञासा की प्रबल चाह थी जो उन्हे महान् बनाये हुए थी। फलतः उन्हें जहाँ कही से ज्ञान मिलता था उसे लेने मे संकोच नही करते थे और न इसमे अपनी हेठी समझते थे।

पर अतीत के उस वैभव की भी आयु थी। गुप्त युग मे ही हम भारत के पतन का बीज पाते है। हर्षवर्धन के समय तथा उसके बाद से तो उसमें स्पष्ट अंकुर उगते दिखाई देते है। मैं समझता हूँ कि इस देश के पतन के अनेक कारणों में से सबसे बड़ा और मुख्य कारण यह रहा है कि जब उसके निवासियों के अहंकार ने उसकी जिज्ञासा और ज्ञानपिपासा तथा आँखें खोलकर चलने की शक्ति नष्ट कर दी तब उसमें वह जड़ता उत्पन्न हुई जो एक दिन उसे ले डूबी। यदि भारत के इतिहास को आलोचनात्मक ढंग से देखो तो स्पष्ट रूप से यही दिखाई देता है कि प्रथम मध्ययुग में ही इस देश में विचारों की प्रगति रुकने लगी थी। पहले उसमें जो मौलिकता थी, जो प्रवाह था, परिवर्तन के साथ साथ प्रकट हुए नवीन तत्वों और सत्यों को ग्रहण करने और उसे हजम करने की जो शक्ति थी, ज्ञान जहाँ भी मिले उसे ले लेने की जो आकांक्षा थी, वह धीरे धीरे लुप्त होने लगी थी। उसका स्थान अपने बड़प्पन का दंभ और अहंकार लेने लगा था। हृदय में यह बात घर करने लगी थी कि हम सबसे श्रेष्ठ है, हमें कुछ नही सीखना है और न जानने के लिये कोई बात रह गयी है। जो कह दिया गया है उसके बाद अब और कुछ कहने के लिये बाकी नही रहा। आठवी शती के बाद तो फिर शताब्दियाँ गुजर गयी पर हम जहाँ थे वहाँ से आगे नहीं बढ़ सके। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति का प्रभाव विघातक ही हो सकता है। जीवन में, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में और समाज मे संकीर्णता तथा अगति का प्रादुर्भाव होना अवश्यंभावी हो जाता है। पुरानी बातें और आचार अनुष्ठानों ने रूढ़ि तथा अंधविश्वास और कठोर परंपराओं का रूप ग्रहण किया।

प्राचीन भारत ने कालस्थिति के अनुसार नए विचारों को जन्म देकर और नए तथ्यों को प्रकट करके ही विकास की अनेक ऊँची मंजिले पार की थी। जगत् गतिशील है, अतः उसके साथ चलते रहना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। संभव है आगे बढ़ने में पुरानी बातों को बदलना पड़े, उनको नया जामा पहिनाना पड़े और उनपर नव प्रकाश डालना पड़े पर ऐसा करने का अर्थ यह कदापि नही है कि उनके प्रति असंमान प्रकट किया जा रहा है। पुरातन का संमान भी उसे सजीव बनाए रखने मे है और जीवन तभी रहेगा जब उसमे चेतना हो, संचलन हो, गति हो और कालप्रवाह के अनुकूल बहने की शक्ति हो।

हममे इसी भाव का, इसी तत्व का ह्रास हो रहा था। योरोप की जातियों ने यूनान और पूर्व से ही ज्ञान प्राप्त किया था। जिस समय हम गिर रहे थे उस समय उसी हमारे ज्ञान की उत्प्रेरणा से प्रेरित हो वे नवजीवन की ओर अग्रसर हो रही थीं। दशगुणोत्तर गणना, कागज पर छापने की कला, बारूद का ज्ञान योरोप ने भारत और चीन से ही पाया। पर जहाँ भारतीय स्वयं सोते रहे वहाँ योरोप की जातियाँ जाग उठीं और जो नयी जाग्रति उत्पन्न हुई उसमें आगे बढ़ चली। हमारी यह स्थिति अबतक बनी हुई है। १८वीं शताब्दी मे जब अंग्रेज इस देश मे अपना पैर जमा रहे थे उस समय तो हम पतन के निकृष्टतम स्तर पर पहुँच चुके थे। घोर मोहनिद्रा ने घेर लिया था। ज्ञाननेत्र बंद हो गये थे। अपने पुराने मार्ग पर चलने में ही हमे कल्याण दिखाई दे रहा था। अपने चारों ओर की दुनिया की ओर आँख उठा कर हमने नही देखा। उस समय या तो हमने अपनी दुर्बलता का अनुभव नही किया और यदि किया तो उसे दूर करने की ओर ध्यान नही दिया। देश में अज्ञान के साथ साथ राष्ट्रीय सतर्कता भी ढीली हो चली थी। इस कारण हम बाहर से आई नई शक्ति की चोट न सहन कर सके। राष्ट्रीय संघटन की इस कमजोरी के कारण ही हम मुगल साम्राज्य के पतन से भी कोई लाभ न उठा सके। १५वीं, १६वीं शताब्दी में संत, सूफी सुधारकों ने देश में एक नई लहर लहरा दी थी जिसके फलस्वरूप मुगल सल्तनत के विरुद्ध विद्रोही शक्तियाँ उठ खड़ी हुई। मराठे, बुंदेले, सिख उसी नवचेतना के प्रतीक थे। शिवाजी, छत्रसाल, गुरु गोविंद-सिंह आदि ने स्थापित साम्राज्य की जड़ तो हिला दी पर उसके घहरा कर गिरने के बाद हम उसका स्थान ग्रहण करने लायक व्यवस्था को जन्म न दे सके। यह फल था इस देश के राष्ट्रीय संघटन की दुर्बलता का। फलतः जिस समय अंग्रेज जमने लगे उस समय यहाँ केवल अव्यवस्था ही अव्यवस्था थी। अनेक छोटी मोटी रियासतें देशभर में स्थापित थीं जो परस्पर टकराकर शक्ति क्षीण किया करती थीं। इस स्थिति मे पश्चिम मे आई हुई व्यवस्थित शक्ति ने धीरे धीरे गिरी हुई इमारत के मलबे को हटाकर अपना नया भवन निर्मित करना आरभ कर दिया।

यदि हम सचेत और जागरूक रहे होते, पश्चिम की नई चेतना, नव ज्ञान से परिचित होने की आवश्यकता समझते, अतीत के अभिमान में पड़कर हमने वर्तमान और भविष्य की उपेक्षा और निरादर न किया होता तो शायद गत कई शताब्दियों का हमारा इतिहास दूसरा ही हुआ होता। पड़ोसी जापान की ओर देखो। उन्नी-सवीं शती के द्वितीय चरण तक वह अबोध था। अज्ञान तथा अहंकार के मोह में

पड़ा हुआ सोता रहा। योरोपियन शक्तियाँ एक दिन उसके तट पर आ धमकीं और उसे गहरी ठोकर मारी। एक ही धक्के ने जापानी जग पड़े। उन्होंने समझ लिया कि पृथ्वी के पश्चिमी भाग में नव ज्योति उदय हो रही है, जिसका प्रकाश ग्रहण किए बिना वह जीवन और वह शक्ति उपलब्ध नहीं हो सकती जो जापान को जीवित रखने के लिये आवश्यक है। इस तथ्य की प्रतीति हुई और जापान ने अपना मार्ग निर्धारित कर लिया। आज वह क्या है जो स्पष्ट है। हमारी उदासीनता हमें ले डूबी। अतीत भी अपमानित हुआ और वर्तमान तथा भविष्य भी विदेशी बूटों से रगड़ा गया। इस प्रकार भारत साम्राज्यवादी ब्रिटेन का दास बना। अपने समस्त अतीत की विशालता और पवित्रता को लिए हुए हिंदू और मुसलमान की सारी विभूति, ऐश्वर्य और महत्ता लिए हुए मुसलमान नई शक्ति के सामने दंडवत् करने के लिये बाध्य हुए।

पर पश्चिम के नवज्ञान और नवचेतना ने जहाँ भारत का इतिहास बदल दिया वहीं उसने समस्त पृथ्वी का नक़शा भी परिवर्तित कर दिया। नक़शा नहीं बल्कि धरातल के समस्त मानवसमाज का कायापलट कर दिया! दुनियाँ में बड़े बड़े साम्राज्यों का उदय हुआ। साम्राज्यलिप्सा और साम्राज्यों का निर्माण राजनीतिक नीति और क्रिया का अंग बन गया। जगत् को न जाने कितनी जातियाँ वैज्ञानिक साधना से सपन्न देशों के नीचे आयीं। कल कारखानेवाले देशों की अर्थनीति और व्यवसायनीति उनकी राजनीति का आधार बनी। जो देश पिछड़े हुए थे वे ही इनके बाजार बने और इन नवोत्थित पूँजीपतियों की शासनसत्ता उनकी आर्थिक लोलुपता की पूर्ति का साधन हुई। नए उपनिवेशों का शोषण आरंभ हुआ। पश्चिम मालामाल होने लगा पर जो दुर्भाग्य से पराधीन हुए वे थे भूख और शोषण तथा दलन से उत्पीड़ित होने लगे। गत दो शताब्दियों का भारत वही उत्पीड़ित, शोषित और दलित भारत है। उसके जीवन की एकमात्र सार्थकता इसी में रह गयी कि वह ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की भोगाग्नि में अपनी समस्त कमाई, आत्मसमान तथा स्वतंत्रता की आहुति डाला करे। इस स्थिति का परिणाम जो हो सकता था वही हुआ। निकम्मे भारतीयों को भी धीरे धीरे आत्मबोध हुआ। गत चालिस पचास वर्षों से हमने भी अनुभव करना आरंभ किया कि यदि इस विभीषिका से छुट्टी न मिली तो एक दिन हमारे देह के अवशिष्ट अस्थिचर्म को भी खानेवाले आ जायँगे। यह असंतोष धीरे धीरे भीतर ही भीतर सुलगता रहा है।

पर जहाँ हमारी असंतोषाग्नि जलती रही है वहाँ योरोप के साम्राज्यवादी भी परस्पर की प्रतिस्पर्धा में भस्म होते रहे हैं। स्वार्थी सभी हैं और सभी दूसरे का शोषण करना चाहते हैं। पर इस पाप कर्म में भी उठाऊपरी आरंभ हुई। कुछ के पास विशाल साम्राज्य है, अतुल ऐश्वर्य है, और कुछ इसमें अपेक्षाकृत कम ही सफल हुए। इस स्थिति में परस्पर की ईर्ष्या तो स्वाभाविक थी ही। इसी ईर्ष्या, स्पर्धा और डाह के गर्भ से युद्धों का जन्म हुआ है। छोटे मोटे न जाने कितने युद्ध हो चुके पर गत महायुद्ध और वर्तमान महासंग्राम उसके दो ज्वलंत प्रतीक है जिन्होंने धरणी को मानव रक्त से लाल कर दिया है। आज जब यह युद्ध सामने आया तो हमने देखा और उसके स्वरूप को पहिचाना। स्पष्ट है कि साम्राज्यवादी परस्पर

भिड़े हुए है दुर्बलों का शोषण और जगत् का बटवारा करने के लिये। यह युद्ध हमारी शृंखलाओं को और जकड़ने के लिये ही हो रहा है। तमाशा यह है कि हमारी सहायता, हमारे धन और हमारे सहयोग से हमें ही बाँधकर चरणो के नीचे रगडने के इस कुचक्र मे हमे भी संमिलित किया जा रहा है। आज यह देश दाने दाने को मुहताज है। करोड़ो बच्चे प्रति वर्ष भूख से छटपटा कर मरते है। मानवता का गला घोंट कर भारतीय उन सब अधिकारों से वंचित किया गया है जो मानवीय जीवन के आधार है। मानुषी भावना और न्याय तथा सांस्कृतिक विकास की यह कैसी निष्ठुर हत्या ! जिस देश मे जीने के लिये समस्त जीवित प्राणी तरसते हो, उसकी उठती हुई आवाज बलपूर्वक दब जाती हो, जो पशुबल और स्वार्थ तथा निरंकुशता से पोसा जाता हो, जिसके मस्तक पर विदेशी पदाघात करते हों, और जहाँ नरकंकालो की अपार भोड़ पेट खलाए तथा मुँह बाए जूठे पत्तलों के लिये तरसतो हो, वहाँ यदि जगत् की प्रगति का एकमात्र सहारा और साधन क्राति तत्व फूट पडने के लिये विकल न हो उठे तो इससे बढकर आश्चर्य और क्या हो सकता है ? युद्ध आया पर उसने एकत्र बारूद में पलीता दागने का ही काम किया। भारत ने साश्चर्य वेहियाई की लीला देखी। उसने देखा कि ब्रिटिश सत्ता इस संकट में अपने पापों का प्रायश्चित्त करके कलुषहीन होना नहीं चाहती बल्कि हमें बलपूर्वक अपने हाथो से अपने गले मे फाँसी की रस्सी और जोर से कसने के लिये बाध्य कर रही है। विडंबना यह कि हमारी बुद्धि और अनुभव तथा भावना का अपमान करके अब भी वह उद्दंडतापूर्वक यह घोषणा करती है कि इसी में भारत का कल्याण है !

यह स्थिति असह्य हो उठी। वह अपनी सीमा पार कर गयी। विक्षोभ और असंतोष की आग उस विंदु पर पहुँच गयी जिसके बाद उसका विस्फोट होना स्वाभाविक था। बंबई का अधिवेशन उसी क्षण का निर्देश कर रहा था। गाँधीजी के मुख से युगभावना बोल रही थी। वे कालात्मा के स्वर को ही प्रकट कर रहे थे जो भारत के हृदय के तारों को झंकृत कर रहा था।

बंबई अधिवेशन की पृष्ठभूमि की हलकी सी रूपरेखा में मैं इतना बहक गया। अब पुनः अपने मुख्य विषय पर आ गया हूँ पर यहाँ पहुँचते पहुँचते काफी विस्तृत घेरा घेर लिया है। अच्छा यह होगा कि इस पत्र को यहीं समाप्त करूँ। मैं भी थक सा गया हूँ। आगे की डोर फिर कभी सँभालूँगा। तुम भी विश्राम करो।

तुम्हारा
बाबू

———:०:———

## ५

नैनी सेंट्रल जेल
१५ मार्च, ४३

प्रिय लालजी !

सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी का एक अध्याय बराबर मेरे स्मृतिपथ मे झलक उठता है। उस दृश्य की छाया मेरे मस्तिष्क में इस प्रकार अंकित हो गयी है कि सहज मे ही बार बार आँखो के सामने नाच उठती है। लेखनी द्वारा उसका चित्र बना देना सरल काम नही है। फिर भी मेरी यह इच्छा हो रही है कि तुमको उसका कुछ परिचय करा दूं। अधिवेशन के सामने विचारार्थ कांग्रेस कार्यसमिति का प्रस्ताव उपस्थित था। प्रस्ताव बड़ा विस्तृत था जिसमे भारत की राष्ट्रीय आत्मा स्पष्ट रूप से बोल रही थी। वे वाक्यावलियाँ देश की मन.स्थिति और अभिलाषा की प्रतीक थीं। वर्तमान महासंग्राम के प्रकृत रूप की अति सक्षिप्त विवेचना कर दी है। हमने यह समझ लिया है कि यह युद्ध साम्राज्य के लिये साम्राज्यवादियो के बीच हो रहा है। इसमें हमारा स्थान क्या है, इसका उत्तर खोजने के लिये दूर जाने की आवश्यकता क्या है ? उत्तर स्पष्ट है कि हम साथी है उन लोगो के जो साम्राज्यवाद का विनाश अभीष्ट समझते है। मानवसमाज का संहार यदि बचाना है, यदि जगत् में घटित होनेवाली इस क्रूर, जघन्य और लाल घटना के मार्ग को सदा के लिये बंद कर देना है तथा मनुष्य ने अपनी बुद्धि, विवेक और तपस्या से जो कुछ अर्जन किया है उसकी रक्षा यदि करनी है तो उसका एकमात्र उपाय है ऐसी व्यवस्था को जन्म देना जिससे भविष्य मे युद्धो की नौबत कभी आवे ही नहीं। यह तभी हो सकता है जब उन तमाम भौतिक कारणों का लोप कर दिया जाय जिनके फल-स्वरूप युद्ध होते है। योरोप के कतिपय राष्ट्रो की भूमिबुभूक्षा और उग्र स्वार्थपरता ही उसके मौलिक कारण है। जब रोग का निदान हो गया तो उसका उपचार करना कठिन नही हुआ करता। भारतीयो के लिये दर्पण की भाँति यह मामला स्पष्ट हो गया। जगतीतल से साम्राज्यवाद का सर्वांश मे खातमा कर देना, जिससे पृथ्वी की कोई जाति किसी की पराधीनता मे न रह पाए एकमात्र रास्ता है मानवता की रक्षा का। हमने इस सत्य को सूर्य के प्रकाश को भाँति देखा और अपना मार्ग चुन लिया। चुन लिया अपना स्थान और निर्धारित कर लिया अपने कार्यक्रम को। भारत को उन शक्तियों का साथ देना है जो जगत् से शोषण, दासता और साम्राज्य-वादिता का नामोनिशान मिटा देने के लिये आगे बढ़ी हुई हो। हमने यह मार्ग केवल अपने लाभ के लिये, अपने स्वार्थ के लिये ही नही चुना, यद्यपि ऐसा करना भी प्रत्येक दृष्टि से उचित ही हुआ होता। हमने इसे चुना सारी विकल और उत्पीड़ित मानवता के कल्याण के लिये। उन असंख्य नरनारियों के निर्दोष और उष्ण

रक्त के नाम पर जिसे पानी की तरह बहाकर भूमंडल को नरक बना देने का कुत्सित कांड रचा जा रहा है, हमने इस रास्ते को चुना और अपना लक्ष्य स्थिर किया।

बंबई के अधिवेशन में भारत की जाग्रत आत्मा ने इसी पुनीत लक्ष्य की घोषणा अपने प्रस्ताव में की। उसने ब्रिटेन से अपील की कि वह साम्राज्यवाद का विसर्जन करने का महत्तम्य संचय करे। लोकतंत्र, स्वतंत्रता, मानवता, सभ्यता और न्याय की झूठी दुहाई देना कोरे बकवाद के सिवा कुछ न होगा यदि ब्रिटेन स्वयं पृथ्वी के मानव की पंचमांश जनसंख्या को अपने स्वार्थ और अपनी विलासिता की पूर्ति का साधन बनाए रखेगा। अपने विकृत और भ्रष्ट स्वरूप को छिपाकर पवित्र सिद्धांतों और आदर्शों का स्तूत खड़ा करने की चेष्टा जगत् को और अपने आपको ठगने के सिवा और कुछ नहीं है। कार्यसमिति ने ब्रिटेन की नीति के इस वैपरीत्य और असंगति की ओर ही ध्यान आकर्षित किया। उसने कहा कि भारत को बंधनमुक्त करो। न्याय और मानवता के प्रति तुम्हारी सच्ची आस्था और निर्दोष निष्ठा का एकमात्र प्रमाण यही हो सकता है। इस कार्य से सिद्ध हो जायगा कि ब्रिटेन स्वयं मानवमात्र की स्वतंत्रता का समर्थक है और अपने हाथ से साम्राज्यवाद के विघटन की चेष्टा कर रहा है। उस स्थिति में भारत अपने समस्त साधनों, शक्तियों तथा उपकरणों के साथ ब्रिटिश नेतृत्व में आगे बढ़ेगा और विश्व के कल्याण के महान उद्योग में अपना सब कुछ होमकर अपने को धन्य समझेगा। पर यदि ब्रिटेन ऐसा नहीं करता तो हमारा उसका कोई संबंध नहीं रह सकता। हम एकाकी अपने मार्ग पर चलेंगे, अपनी स्वतंत्रता के लिये गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक संग्राम करेंगे और इस प्रकार के विनाशकारी साम्राज्यवाद के पतन का मार्ग प्रशस्त करेंगे। यह प्रस्ताव धमकी के रूप में नहीं था और न था युद्ध की ललकार! अवश्य ही उसका आशय था अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण, अपने पथ पर अग्रसर होने के लिये हमारे दृढ़ संकल्प की घोषणा। ब्रिटेन का आवाहन किया था हमने इसलिये कि वह हमारा न केवल सहपथिक बने वरन् नेता का पद भी ग्रहण करे। यह सहयोग था, मैत्री का प्रस्ताव था। पर, हाँ यदि उसे ठुकराया जाय तो उसके पीछे अपने समस्त प्रचंड विरोधियों से संघर्ष तक करने की अटल प्रतिज्ञा थी।

प्रस्ताव दो दिन के विवाद के बाद प्रायः सर्वसंमति से स्वीकृत हो गया। उसके विरोधी दस बारह की संख्या में वे कम्युनिस्ट थे जो अपने दिल और दिमाग रूस के यहाँ रेहन रख चुके हैं। ये कम्युनिस्ट भी अजब जंतु हैं। इनकी राष्ट्रीयता, राज-नीति, देशभक्ति, इनका जीवन, इनके विचार, इनकी बुद्धि और इनका हृदय सब कुछ परिचालित होता है उस संस्था की आज्ञा के अनुसार जो 'तृतीय इंटरनेशनल' कहलाती है और जिसका दफ्तर है मास्को में। यह संस्था दावा तो करती है सारे संसार की स्वतंत्रता के लिये विश्वविद्रोह का आयोजन करने का, पर गत दस वर्षों से इसका काम हो गया है रूस की पर राष्ट्र नीति के इशारे पर नाचते रहना और उसी की सफलता के लिये अपनी नीति निर्धारित करते रहना। संसार भर की कम्युनिस्ट पार्टियाँ एक प्रकार से विभिन्न देशों में स्थापित रूस की राजनैतिक एजेंसियाँ हैं जो अपने देश की राजनीति को मास्को की आज्ञा के अनुसार प्रभावित करती हैं। कम्यूनिज्म की विचारधारा तो साम्राज्यवाद, शोषण और दासता का

अंत करने के लिये ही वह निकली थी पर उसके साथ साथ रूस को उसका अगुवा और स्टालिन को एकमात्र विधाता मान लेने से जो दोष आ गया है वह उसके विशुद्ध रूप को विकृत कर रहा है। परिणाम यह हो रहा है कि कम्यूनिज्म के आदर्शों की पूर्ति रूस के वैयक्तिक लाभ मे देखी जा रही है। समझा यह जाता है कि सभी देश अपने हिताहित को भूलकर केवल रूस के लाभालाभ को देखें और उसी के अनुसार अपनी नीति निर्धारित करे। इसी मे वे विभिन्न देशों का सच्चा हित देखते हैं।

कुछ दिन पहले वे इस युद्ध को साम्राज्यवादी कहते थे और उसका विरोध करने के लिये हल्ला मचाने में सब से आगे थे। गाँधी जी पर उनका क्रोध सबसे अधिक था, संभवतः साम्राज्यवादियों से भी अधिक, क्यों कि उनके मत से महात्मा जी युद्ध का विरोध करने मे वह तेजी और उग्रता नहीं प्रदर्शित कर रहे थे जो होनी चाहिये थी। रामगढ की कांग्रेस हमे भूली नहीं है। यहाँ के कम्युनिस्टों में डाक्टर अशरफ साहब प्रसिद्ध हैं जो प्रायः सदा जब कभी सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन होता है तो अपने दल के प्रमुख वक्ता का अभिनय सफलतापूर्वक प्रदर्शित करते हैं। आप व्याख्याता अच्छे हैं। वाणी में ओज है, बोलने का ढंग मनोरंजक है, यद्यपि बोलते समय हाथ पैर इस प्रकार चलाते है, मुख की मुद्रा ऐसी बनाते हैं कि कभी कभी आलफ्रेड थियेट्रिकल कंपनी के अभिनेताओं की याद आने लगती है। यही सज्जन रामगढ़ की कांग्रेस मे बोले थे और अपने मुखमंदिर से वह क्रांतिपूर्ण वाग्धारा बहाई कि बहुत से उसमे प्लावित हो गये। गाँधी जी पर गहरा आक्षेप था। 'देश की जनता तैयार है, लेकिन लीडरशिप आगे नहीं बढ रही है। यही मौका है जब इनकलाबी तूफान से साम्राज्यशाहियत की एक एक ईट हिला देनी चाहिए। कांग्रेस डरती है क्योंकि उसकी लीडरशिप बुर्जवा लीडरशिप है जो यकीनन इनकलाब से ही घबराती है।' पर यह याद रखना चाहिये कि ये तमाम बहकी हुई बातें उस समय की हैं जब रूस की जर्मनी से दोस्ती थी और जर्मनी सिर्फ फ्रांस और ब्रिटेन से लड़ रहा था।

सन् १९४१ का जमाना मुझे याद है। नैनी सेंट्रल जेल मे मैं व्यक्तिगत सत्याग्रह के सिलसिले में अपनी सजा भुगत रहा था। यहाँ अच्छा जाठा कम्युनिस्टों का भी था जो नजरबंद थे। उनका एक एक क्षण इसी प्रचार मे बीतता था कि यह सत्याग्रह गाँधी जी की चाल के सिवा कुछ नही है जिसके द्वारा उन्होने देश की उन्नति हुई क्रांतिकारिणी प्रवृत्ति को दूसरी दिशा में मोड़कर उसके प्रवाह और दबाव को नष्ट कर देने की कोशिश की है। पर वे उल्टा सीधा प्रलाप कर ही रहे थे कि एक दिन यह समाचार मिला कि रूस पर जर्मन सेना चढ़ दौड़ी। यह समाचार क्या था सिद्ध मंत्र था जिसने जादू का काम किया। जो कम्युनिस्ट प्रातःकाल तक युद्ध का विरोध करने की बात कह रहे थे सायंकाल वे बदले दिखाई देने लगे। वे मौन थे; युद्ध के संबध की टीका करने को तैयार न थे। महीनों तक उनकी चुप्पी चली। वे राह देख रहे थे मास्को से आनेवाले दिव्य संदेश की। परिवर्तित परिस्थिति में क्या करना चाहिए और कौन सी नीति ग्रहण करनी चाहिए। कदाचित् कुछ दिन बाद आदेश मिला कि अब इस युद्ध में आँख मूँदकर ब्रिटेन की सहायता करनी चाहिए। घटनाओं की चपेट से रूस और ब्रिटेन का स्वार्थ एक हो गया था। दोनों एक पंक्ति

में आ गये थे। रूस का हित इसी में था कि उसके मित्र ब्रिटेन की शक्ति बढ़े और उसके मार्ग मे कोई बाधा न खड़ी की जाय। बस अब क्या था। हर बात मे चाँव चाँव करने वाले कम्युनिस्ट ऐसे बदले कि उनको पहिचानना कठिन हो गया। उनकी नीति ने पलटा खाया। अब यह युद्ध साम्राज्यवादी न ही रह गया बल्कि जनता का संग्राम हो गया।

फासिज्म को नष्ट करने और मानवता की रक्षा करने की बात भी अब सूझी। रूस की रक्षा करनी है अतः बिना किसी शर्त के इंग्लैड की सहायता करना ही मुख्य धर्म हो गया—उस इंग्लैड की जो साम्राज्यवादी है, जिसने भारत की चालीस करोड़ जनता को आज भी पीसते रहने का निश्चय कर लिया है। इसी में विश्व-विद्रोह की सफलता और मार्क्सवाद की पूरी सार्थकता दृष्टिगोचर हुई। लेनिन की वह आज्ञा भूल गयी जिसमें उन्होंने गत महायुद्ध के समय मार्क्सवादी कम्युनिस्टों से अनुरोध किया था कि वे अपने अपने युद्धलिप्त साम्राज्यवादी और पूँजीवादी शासकों को नष्ट करने के लिये विद्रोह की तैयारी करें और युद्ध में अपने ही देश की पराजय का कारण तक नबने के लिये तैयार रहें। आज यह सब विस्मृत हुआ, लुप्त हुआ; क्योंकि रूस का हित और कल्याण इसमें था कि पराधीन भारत अपने दीन, हीन और मलिन वेश में भी ब्रिटेन की सहायता करे। फासिज्म का खतरा उस समय न जाने कहाँ विलीन हो गया था जब योरोप के देश, एक के बाद दूसरे, हिटलर के प्रचंड पदाघात से भूमिसात् होते जा रहे थे। पोलैंड, डेनमार्क, नार्वे, हालैंड, बेलजियम, फ्रांस, रूमानियाँ, युगोस्लाविया, ग्रीस, सब क्रमशः हिटलरी हुंकार से भस्म हुए। उस समय रूस ने जर्मनी के साथ संधि कर रखी थी। उसके खतरे से निर्भय होकर निस्संकोच हिटलर ने यूरोप को विचूर्ण करने का प्रशस्त मार्ग पाया। मानता हूँ कि जर्मनी के साथ अनाक्रमण संधि करके अपनी तैयारी करने का अवसर ढूँढ निकालना रूस के नेताओं की बुद्धिमानी का द्योतक था। यह भी हो सकता है कि उस समय इसी में रूस का हित था। पर इसके साथ ही इसमें भी संदेह नही है कि हिटलर को यदि रूस के खतरे का भय रहा होता तो यूरोप के इतने देशों की स्वतंत्रता का अपहरण इतनी शीघ्रता से वह न कर पाता।

एक सीमा तक रूस की नीति इन देशों के सर्वनाश के लिये जिम्मेदार थी। फासिज्म यूरोप में पैर जमा रहा था, छोटे राष्ट्र उसके पेट में समा रहे थे। पर उस समय फासिज्म का हौआ न था और ब्रिटेन का विरोध करने और देश में क्रांतिकारी आग लगा देने का प्रचार यहाँ के कम्युनिस्ट कर रहे थे। पर जहाँ रूस का हित ब्रिटेन की सहायता करने में दिखाई देने लगा वहाँ यह युद्ध जनयुद्ध हो गया, फासिज्म का विकराल रूप भी नजर आया। देवली के कम्युनिस्ट नजरबंद ब्रिटेन के सहायक हुए। वहाँ से मुक्ति मिली। वर्षों से गैरकाननी हुई कम्युनिस्ट पार्टी कानूनी संस्था बनी और कम्युनिस्ट सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में दूसरे प्रकार की बाँग देते सुनाई पड़े। जो देश रामगढ़ कांग्रेस के समय तैयार था वही अब 'किसी इनकलाबी तहरीक के लिये तैयार नहीं रह गया था।' अब तक हिंदू मुसल-मानों की समस्या के संबंध में जो लोग यह कहा करते थे कि 'वह तो सरमायादारों का झगड़ा है, जिसकी कोई बुनियाद नहीं है और आपसे आप उस समय हल हो

जाएगा जब हिंदू और मुसलमान मजदूर तथा किसान अपने 'क्लास इंटरेस्ट' (वर्ग-हित) से चैतन्य होंगे, आर्थिक सवाल जैसे जैसे उग्र होंगे वैसे वैसे यह सांप्रदायिकता आपसे आप नष्ट हो जायगी', वे ही बंबई मे हिंदू मुसलिम एका के ऐसे हिमायती बने कि मुस्लिम लीग से समझौता करने का काम सर्वोपरि स्थापित कर दिया। वे हो बेपेंदी के लोटे, जिन्होने अवसरवाद को अपनाया है, जिन्होंने अपने देश के हित को विदेश के कल्याण में लय कर दिया है और जो आँखें खोलकर देखने से इनकार करके कठोर राजनीतिक कठमुल्लापन ग्रहण किए हुए हैं, कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव के विरोधी थे। सौभाग्य से उनकी संख्या पूरे एक दर्जन से अधिक न थी।

राष्ट्र के हृदय में धधकती हुई ज्वाला के सामने बेचारे कम्युनिस्ट कहाँ टिकते। अपने विद्रोह ,विरोधी वितंडा और कूड़ेकर्कट को लिए हुए ऐसे उड़े जैसे तिनके तूफान के आवेग में उड़ जाते हैं। नभमंडल तक को गुंजायमान करती हुई गंभीर करतलध्वनि और प्रचंड जय जयकार के बीच राष्ट्रपति ने घोषणा की कि प्रस्ताव अत्यधिक बहुमतसे स्वीकृत हो गया। ८ अगस्त सन् १९४२ के सायंकाल ८ बजे थे जब शताब्दियो के अपमान और निर्दलन तथा पतन का बोझ लिए हुए भारत की क्षुब्ध आत्मा ने समस्त दानवी शक्ति संपन्न ब्रिटिश सिह का प्रतिरोध करने का दृढ़ निश्चय किया। वातावरण गंभीर था। भविष्य भयानक दृष्टिगोचर हो रहा था और आनेवाले प्रचंड भूकंप की गड़गड़ाहट सुनाई देने लगी थी। पर इन तमाम बातों से परिचित होते हुए भी निहत्थे भारतीयो ने अपने सिर में कफन बाँधकर निकलने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। क्या मस्ती थी, क्या ओज था। उसका तेज दर्शनीय था क्योंकि जीनव का मोह छोड़कर वह आज महाकाल का रोमाचक आवाहन करने के लिये अपने मुट्ठी में जल और अक्षत ले चुका था। यहाँ बैठे बैठे सोचता हूँ कि यह मेरा सौभाग्य था जो मै उस मुहूर्त में वह ऐतिहासिक दृश्य देखने के लिये वहाँ उपस्थित था। मनुष्य के जीवन मे ऐसे क्षण आते है, जब उसे महान् निर्णय करना पड़ता है। ये क्षण अनंत में लीन हो जाते है, घटनाओं के प्रवाह इतिहास को सामग्री बनते है पर सदा के लिये परिलुप्त हुए वे क्षण क्षणभगुरता का प्रदर्शन करते हुए भी मानों अविनश्वर हो जाते है जो युग युग तक समाज के जीवन को प्रभावित करते रहते है।

प्रस्ताव की स्वीकृति की घोषणा करने के बाद राष्ट्रपति ने महात्मा जी से अपील की। उन्हें पुकारा कि आप आएँ और हमें अपने संदेश से परिचित कराएँ। गत दो दिनो से होनेवाले विवाद को गाँधी जी अचल भाव से बराबर सुनते रहे। १५–१६ घंटों तक सभामंच पर वह तेजस्वी मूर्ति बराबर बिराजती रही। उनका ध्यानमग्न स्वरूप, समाधिस्थ मुद्रा, चिंतनशील मुखमंडल तथा अटल आसन ऐसा लगता था मानो दृढ़ता स्वयं सजीव प्रतिमा बनकर कहीं अदृश्य से सहसा आविर्भूत हो पड़ी है। गिरिशिखर पर अंबर से होनेवाला जलवर्षण जिस प्रकार गिरकर अधोमुख बह जाता है, उसी प्रकार सारा विवाद मानो उनके अंतस्तल को स्पर्श किए बिना ऊपर ही ऊपर बह गया था। मौलाना के आवाहन पर उनके स्थिर नेत्र एक बार सचल हुए। पुतलियाँ चमक उठीं, भवों पर बल पड़ीं और अधरोष्ठ पर स्मित रेखा दौड़ गई। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ कि चिन्मयता में अभिभूत

यह अनासक्त महाव्यक्ति कही दूर से अति दूर से वापस लौटा है—यद्यपि उसकी भौतिक देह सभामंडप में ही वर्तमान थी। वे शांत भाव से अपने आसन से उठे और व्याख्यान मंच पर आए। प्रचंड जनरव सहस्रो कलकंठो से निकलकर दिग्-दिगंत मे व्याप्त हो उठा। सारा एकत्र जनसमूह महोदधि मे उठी तरग की भाँति लहरा था। पत्रकारवर्ग उत्सुक भाव से अपनी पेंसिल और कापी लिए हुए मच के निकट यथासाध्य पहुँच जाने के लिये आगे की ओर खिसका। वह गाँधो जी की जिह्वा से निकले एक एक शब्द को पकड़ पाने के लिये उत्कठित था। व्याख्यान मंच पर आते ही ऐसा प्रतीत हुआ कि आलोक की एक उज्ज्वल आभा उनके चारों ओर व्याप्त हो गई। बच्चे की भाँति निर्दोष हँसी के साथ गाँधी जी ने अपनी परिचित प्रणामांजलि वक्षस्थल पर स्थापित की।

उनके आसीन होते ही चारों ओर सन्नाटा छा गया। ऐसा सन्नाटा कि लोगों के श्वास प्रश्वास की मद सुरसुराहट तक सुनाई देने लगी। एक ही दृष्टि सब के विचार और सबके ध्यान का केंद्रबिंदु थी। एकाग्रता और निश्चलता ने वायुमंडल मे गंभीरता का अद्भुत रंग उड़ेल दिया। वह जनाकीर्ण स्थान ऐसा निस्तब्ध था कि परम शून्यता का परिचय दे रहा था। उन्होंने पहले हिंदी में और बाद में अंग्रेजी मे भाषण किया। बहुत दिनो के बाद गाँधी जी को इतनी देर तक बोलते सुना। प्राय: दो घंटे तक उनका भाषण होता रहा। जिन्होंने उन्हें बोलते हुए सुना है वे जानते हैं कि उनके भाषण का ढंग कैसा होता है। आजकल जिसे व्याख्यान की कला कहते हैं वह गाँधी जी को छू भी नहीं गयी है। न वे हाथ हिलाते हैं, न मुँह बनाते हैं, न आवेश और भावुकता की पुट देते है और न किसी प्रकार के अभिनय को स्थान देते हैं। पर यह सब न होते हुए भी उनका एक एक शब्द मानो सीधे हृदय में घुसता चला जाता है। मुझे गाँधी जी के भाषणों को सुनने का सौभाग्य अनेक बार मिल चुका है। नपे तुले और चुने हुए शब्द, भाव का अनुकरण करती हुई भाषा की धारा, आडंबर-विहीन उनके बोलने का अति संयत ढंग, स्वर की स्वच्छंद और सुस्पष्ट सरल गति, दृष्टि में अलौकिक उदासीनता का रंग, मुख पर दार्शनिकता, अनुभूति तथा अदृष्ट-पूर्ण भावों की छाया, ध्वनि में एक प्रकार की वेदना का राग, सुननेवाले के हृदय के एक एक तार को झनझना देता है। मालूम होता है कि कोई मथनी लेकर अंत:-करण को हिलोरे दे रहा है। बोलते हुए उनके आजानु बाहु कभी कभी हिलते हैं जिनका संचलन उनके दृढ़ संकल्प को मूर्त कर देता है। यह सारा दृश्य एक साथ देखने पर मालूम होता है कि उत्सर्ग और निर्भयता की यह सजीव प्रतिमा कहीं दिव्यलोक से अवतीर्ण होकर संतप्त अवनि की सारी विषवेदनाको स्वय कंठस्थ करके मृत्युंजय हो जाने के लिये बद्धपरिकर है।

'मौलाना साहब के हुकम से मैं यहाँ आ गया हूँ। मैं नही जानता कि मुझे क्या कहना चाहिए। कुछ कहने के बारे में मैंने सोचा भी नहीं था। पर अब तो यहाँ आ गया हूँ और भीतर से भी मुझे जैसे प्रेरणा हो गयी है कि कुछ कहूँ। मैने कुछ कहने को तो सोचा नहीं है, फिर भी कह चलता हूँ। विचार पीछे आते रहेंगे।' इन वाक्यों के साथ उन्होंने भाषण आरंभ किया। उनके लंबे व्याख्यान के उद्धरण यहाँ उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं है। उसके मुख्य अंश उस

समय के समाचारपत्रों मे प्रकाशित हो गए थे । मुझे विश्वास है कि तुमने भी उन्हें पढ़ा या सुना होगा । पर इतना कहना आवश्यक है कि भाषण करते हुए गाँधी जी की धीर, शांत मूर्ति की हृदयस्थ ज्वाला स्पष्टत: अपनी तेजस्विता प्रकट कर रही थी । मालूम हो रहा था कि हिमांचल की भाँति अटलता लिए हुए वह व्यक्ति जगत् की समस्त पशुशक्ति को ललकार रहा है और यदि एक बार क्रोध हिंसा तथा काल भी रूप धारण करके आ जाए तो भी उसे अपने पथ से डिगाने में समर्थ न होगा । गांधी सर को हथेली पर लेकर बढ़ा हुआ था । यदि समस्त जगत् रक्ताभ नेत्रों से उसका विरोध करेगा तो भी वह उनका सामना करने के लिये तैयार दिखाई देता था । उनका भाषण क्या था, जीवन के समस्त मोहबंधन को छिन्नभिन्न करके भावी महाविक्षोभ के समुद्र मे हँसते हँसते कूद पड़ने के लिये आवाहन था । पुकार थी उन लोगों की जो किसी महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिये अपने हाथों अपनी सारी आशा, ऐश्वर्य. विलास और विश्राम के भवन को आग लगाकर उसका जलना देखने का साहस रखते थे । कर्तव्य के कठोर पथ में 'कुछ कर जाओ या फिर मर जाओ' उनका महामंत्र था जिसके द्वारा यह ममतानिर्मुक्त अवधूत भारत को दीक्षित कर रहा था ।

पर यह न समझना कि उनके भाषण में कहीं क्रोध, आवेश, प्रतिशोध या प्रतिहिंसा का स्पर्श दूर से भी होता दिखाई दिया हो । दृढ़ता थी, न्याय और मानवता के लिये मर मिटने का संकल्प था, ज्वाला थी, ओज और तेजस्विता थी पर जो था सब सात्विकता से ओतप्रोत था । गांधी जी की यह विशेषता उन्हें लोकोत्तर महामानव की श्रेणी में पहुँचा देती है । वे क्रांति के मूर्तिमान रूप है, न्याय के पुजारी है, प्रबल योद्धा है जो निर्भय अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ भिड़ने को तैयार रहते हैं, जिनका सारा जीवन केवल संघर्ष ही संघर्ष से ओतप्रोत रहा है, फिर भी उनमें न प्रतिहिंसा की भावना है, न किसी का अहित करने की चाह और न किसी के प्रति द्वेष या घृणा का रूखा भाव, क्योंकि इनके लिये उनके हृदय में स्थान ही नही है, उनका सारा दृष्टिकोण, उनकी सारी विचारधारा ही नैतिकतामूलक है । इसी कारण वे विश्वास करते है कि जीवन का मूल स्रोत सत्य है, शुभ है, पुनीत और कल्याणमय है । वे उन आदर्शवादियों के अग्रणी हैं जो मानवहृदय को निसर्गत: सन्मय, शिवमय और पवित्र मानते है । जिसका ऐसा विश्वास हो और जिसका यह दृष्टिकोण हो वह किसी के प्रति घृणा, द्वेष या हिंसा का भाव रखेगा ही कैसे ? वह मानते है कि सभी मनुष्य भले है और सब में भलाई करने की, सत्पथ पर चलने की असीम क्षमता वर्तमान है । गांधीवाद की भित्ति, उसका मूल यही विश्वास है । जगत् के समस्त 'वादों' से गांधीवाद इसी कारण सिद्धांतत. भिन्न है । इसका यह अर्थ नहीं है कि गांधीवाद यह स्वीकार नही करता कि मनुष्य बुराई कर ही नही सकता । बात ऐसी नही है । बुराई होती है, अन्याय होता है, यह तो वह भी स्वीकार करता है, पर वह यह नहीं मानता कि बुराई और अन्याय मानव हृदय का, उसके स्वभाव का अविच्छेद्य अंग है । उसका कहना है कि अज्ञान, आवेश और मोह में पड़कर मनुष्य पथभ्रष्ट अवश्य

हो जाता है पर यह होता है इसलिये कि वह अपनी वास्तविक सन्मयी वृत्ति के स्वरूप को भूल जाता है। सतत उत्प्रेरणाओं के द्वारा उसे उसके स्वरूप का ज्ञान करा दो, उसके स्वभाव के शुभ्रांश को जाग्रत कर दो, उसकी पुनीत सद्भावनाओं की तंत्री को झंकृत कर दो, वह स्वयमेव अपने स्वाभाविक उचित पथ पर आ जाएगा। जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण ही उनकी अभिनव विचारधारा का स्रोत है।

फलतः उनका कोई शत्रु तो हो ही नहीं सकता क्योंकि किसी के प्रति शत्रुभाव रखने में वे समर्थ ही नही है। फिर प्रतिहिंसा या घृणा के लिये स्थान ही कहाँ रहा। हाँ समाज में या वैयक्तिक जीवन में भी समष्टि या व्यष्टि के रूप में यदि कोई पथभ्रष्ट होकर अन्याय का पथावलंबन करता है, अशुभ की ओर जाता है तो वे उसका विरोध करते हैं। विरोध विरोधी के भाव से नहीं बल्कि इस इच्छा से कि उस पथभ्रष्ट समूह अथवा व्यक्ति की अंतश्चेतना जाग्रत कर दी जाय जिसमें वह जिस पथ से विचलित हो गया है उसी पर फिर आ जाए। यही लक्ष्य होता है उनके संघर्ष का। इसी आदर्श को लेकर उन्होंने सारे जीवन घोर संघर्ष किया है। अपने युद्ध में उन्होंने अहिंसा, कष्टसहन, त्याग और तपस्या को मुख्य अस्त्र माना है। चोट खाकर चोट तो स्वयं न करो पर आततायी के सामने सिर भी न झुकाओ। अपने आदर्श और मत तथा लक्ष्य पर उस समय भी दृढ़तापूर्वक डटे रहो। युद्ध की इस कला के मूल में क्या है? विचारपूर्वक देखोगे तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनका सारा संव्यूहन और आयोजन उनके उपर्युक्त दृष्टिकोण और विचारों से कितना सगत है। भगवान तथागत बुद्ध का यह वाक्य 'अक्कोधेन जिते क्रोधं, असाधुं साधुना जिते' गांधी जी की युद्धप्रणाली की विशेषता है। हम हँसते है, सारा संसार हँसता है, अकाट्य तर्क पेश किए जाते है कि हिंसा का दमन भला अहिंसा से कैसे होगा? लोग गांधी जी को अव्यावहारिक आदर्शवादी कहते है जो वास्तविक जगत् की उपेक्षा करके अपने काल्पनिक जगत् में विचरण किया करता है। मैं इन तर्कों को निरर्थक नही कहता और न इसका उत्तर देकर व्यर्थ का विवाद बढ़ाना चाहता हूँ पर इतना अवश्य कहूँगा कि गांधी जी की युद्ध-कला न सारहीन है, न कोरी काल्पनिक और न अव्यावहारिक। उसे उस मौलिक दृष्टिकोण के प्रकाश में देखो जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। वे विमूढ़ और मोहाच्छन्न मानव के अंतस्तल को उसके प्रकृत रूप में जगा देना चाहते हैं। उस अंतस्तल को जिसे वे स्वभावतः शुभ और पुनीत मानते हैं। उसे जगाने का मार्ग है, मानव के हृदय में प्रविष्ट होकर उसे उत्प्रेरित कर देना। यह काम डंडे से डंडे का जवाब देने से नही हो सकता। घृणा के बदले घृणा, द्वेष के बदले द्वेष और हिंसा के बदले हिंसा से इस लक्ष्य की सिद्धि नही हो सकती।

पथभ्रष्ट की रक्षा पथावलंबी ही कर सकता है। उसके सामने आदर्श स्थापित करो, उसे हृदय की पवित्रता और अंतस्तल के सन्मय रूप का दर्शन कराओ। तभी उसकी अंतश्चेतना जग उठेगी और वह अपने स्वरूप से साक्षात्कार करेगी। स्वयं डंडा खाकर, कष्ट सहनकर, त्याग और तप का आश्रय लेकर ही उसका हृदय पुनीत भावों से अभिभूत किया जा सकेगा। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ यही

गांधीवाद का वास्तविक रूप है। हम उनके प्रत्येक कार्य में इसी दृष्टिकोण की आभा पाते है। गांधी जी बार बार कहते हैं कि वे विरोधी के हृदयपरिवर्तन में विश्वास करते है। उन्हें तो इस चमत्कार में यहाँ तक विश्वास है कि वे समझते है कि एक दिन ब्रिटेन का भी हृदयपरिवर्तन होगा। अब तक नहीं हुआ यह सच है पर इससे भी वे निराश नही होते। इसके लिये वे अपने विश्वास और सिद्धांत में दोष नहीं देखते पर समझते हैं कि इसकी भी जिम्मेदारी उन लोगों पर है जो उस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप दे रहे है। यदि साम्राज्यवादी ब्रिटेन का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ तो इसका कारण वे हमारी और अपनी कमजोरी मानते हैं न कि उन सिद्धांतों में त्रुटि। वे बार बार कहते हैं कि मेरे आंदोलन में समझौते की गुंजाइश सदा रहती है। बड़े बड़े उग्र मतवाले उनकी इस बात से भड़क जाते हैं पर गांधी जी को कहते है वह सर्वथा उनके भरोसे संगत है। वे तो मानते ही हैं कि मनुष्य का हृदय परिवर्तित होगा और जिस क्षण यह घटना घटी उसी मिनट उससे समझौते और मित्रता का द्वार खुल गया।

और एक बात देखो जो उनके विचारों पर प्रकाश डालती है। वे कभी विरोधी पर उसकी असावधानी में अहिंसात्मक प्रहार भी नही करते। जब किसी आंदोलन का सूत्रपात करना चाहते है उसके पूर्व सरकार के प्रतिनिधि वाइसराय से मिलते हैं अथवा उन्हें पत्र से सूचित कर देते है। बहुतों को उनके इस तरीके पर आपत्ति होती है पर वे कभी इसमें भूल नही करते। फिर जब मिलते हैं या आंदोलन से पूर्व पत्र से सूचना देते है तो उसमें कुछ मांग पेश कर देते हैं। ये माँगें शर्त के रूप मे होती है जिनको पूर्ति का अर्थ होगा आदोलन का आरंभ न होना। मांगो में भी आश्चर्य-जनक विचित्रता होती है। युद्ध जितना ही उग्र होनेवाला होता है मांग उतनी ही सीधी, छोटी और नगण्य होती है। जब यह भी पूरी नही होती तब वे संघर्ष का सूत्रपात कर देते है। गत २२ वर्षो के कांग्रेस के इतिहास में देखो, जब जब किसी किसी आदोलन का सृजन करने का अवसर आया है तब तब महात्मा जी ने यही मार्ग पकड़ा है। बहुधा लोगों की समझ में उनकी यह बात आती ही नही। उन्हें असंगति का दोष दिखाई देता है। जो व्यक्ति विद्रोह करने के लिये अग्रसर हो वह इतनी सी छोटी माँग, इतने नम्र शब्दों में, गिड़गिड़ाते हुए विरोध के सामने कैसे पेश करता है। पर वे यह नही समझ पाते कि गांधी की माँग, जितनी ही छोटी हो और वह जितना ही विनम्र दिखाई दे उसे उतना ही दृढ़, कठोर और भयानक समझो। उसी से अंदाज लगाओ कि माँग जितनी छोटी हैं आंदोलन उतना ही उग्र होगा।

इसका रहस्य भी उसी दृष्टिकोण में है। वे सभी बातो को नैतिक स्तर से ही देखते है। नैतिक दृष्टि से किसी पर भी आघात करना उसी समय उचित हो सकता है जब स्पष्ट हो जाए कि वह व्यक्ति न केवल अनजाने गलती कर रहा है बल्कि जान बूझकर गलती पर डटे रहना चाहता है। मोहावेश में उसने अपनी सद्वृत्तियों को इतना कुंठित कर दिया है कि उनका चैतन्य होना तब तक संभव ही नहीं है जब तक उसे गहरी और प्रभावकर उत्प्रेरणा प्रदान न की जाय। इसकी जाँच करने की कसौटी क्या हो सकती है? गांधी जी की दृष्टि में उस कसौटी

का काम उनकी युद्धारंभ से पूर्व की नम्रता और नगण्य माँग देती है। यदि समझाने बुझाने और अनुनय विनय करने पर भी किसी का दंभ, उसका दर्प, उसका अहंकार, उसका स्वार्थ, उसका मोह उसे त्यागपथ का अवलंबन नही करने देता तो फिर अहिसात्मक आंदोलन के रूप मे उसके हृत्पटल का स्पर्श करना आवश्यक हो जाता है है। गाधी जी विरोधी को गलती में पड़ा सिद्ध कर देते है और तब उससे युद्ध ठानते है। नैतिक दृष्टि से आरंभ हुए इस युद्ध की सफलता जगत् में नैतिक समर्थन पर ही अवलंबित है। अहिसा का बल भी नैतिक ही होता है अतः जगत् का नैतिक समर्थन प्राप्त करने का उपाय भी यही है विरोधी जिस आधार पर खड़ा है उसे उखाड़ने के पूर्व उसका पूर्ण अनौचित्य सिद्ध कर दिया जाय।

बंबई में फिर एक बार ऐसे व्यक्ति के हाथों राष्ट्र की बागडोर देकर हम निश्चित हुए। भावी राष्ट्रीय महायज्ञ के महान् अध्वर्यु बने गांधी जी और हम लोगों ने उसमे अपनी अपनी तुच्छ आहुतियाँ डालनेका निश्चय करके अपने कर्तव्य का निर्धारण किया। गांधी जी का भाषण जब समाप्त हुआ तब दस बज रहे थे। बंबई का ऐतिहासिक अधिवेशन भी उनके भाषण के साथ साथ समाप्त हुआ और मैं इस पत्र को भी यहीं समाप्त करता हूँ। उसके बाद से राष्ट्रीय जीवन का दूसरा अध्याय आरंभ होता है। उसके साथ मेरे तुच्छ व्यक्ति का जीवन भी तदनुकूल छोटी बड़ी लहरियों पर लहराने लगा। मैं समझता हूँ कि तुम भी चाहते होगे कि इस पत्र को यहाँ खतम किया जाय। मै लिखता तो जाता हूँ पर मुझे डर लगा रहता है कि कही तुम पढते पढ़ते ऊब न जाओ। बहुत सी बातें तुम्हें रोचक लग सकतीं है पर बहुत सी ऐसी हैं जिनमें कोई रस न मिलता होगा। मैं फिर कहता हूँ कि जितना अच्छा लगे पढ़ना, जो न रुचे छोड़ देना। मैं तो पड़े पड़े स्मृति और चेतना में हिलोरे लेता रहता हूँ। एकांत का भार तो दबाए रहता ही है उसमें तुम्हारी स्मृति और मेरा सहज मोह और भी उत्पीड़ित कर देता है। मन से तुम्हारे पास पहुँचकर और विचार द्वारा तुमसे संबंध जोड़कर जिस शांति का अनुभव करता हूँ वह मुझे अक्सर लिखते रहने की प्रेरणा किया करती है। मैं प्रयास नही करता। अपनी ओर देखता हूँ और यथासंभव समझने की कोशिश करता हूँ। विचार जिधर बहते है बहने देता हूँ। करता हूँ सिर्फ इतना कि उन्हें लिखता जाता हूँ। बस—आज यही।

तुम्हारा
बाबू

---

## ८

नैनी सेंट्रल जेल,
१८ मार्च ४३

प्रिय लालजी !

आओ ! आज कई दिनों बाद पुनः तुमसे कुछ बातचीत करने की इच्छा हो रही है। यह सच है कि इस बातचीत में न ध्वनि होगी और न होगा स्वर पर कदाचित् तुम्हे अभी इसका अनुभव नही है कि इस मूक संभाषण में भी कभी कभी कितना संतोष प्राप्त होता है। मनुष्य का हृदय न जाने कितने प्रकार की वृत्तियों का रंगमच होता है। वे वृत्तियाँ अभिनय करती है, तरह तरह के रूप और रंग लेकर आती है, आकर्षण और अनाकर्षण (विकर्षण), अनुराग तथा विराग की सृष्टि करती है। उनकी इस लीला को कोई देखता है। द्रष्टा न जाने कौन है पर है कोई जरूर क्योंकि देखनेवाला उन भावतरंगों में बहने लगता है जो उनकी लीला द्वारा लहरा उठती हैं। अपने हृदय को, उसकी वृत्तियों को, उसकी लीला को, तज्जन्य भाव के प्रवाह को इस जड़ शरीर में बैठा हुआ देखता हूँ। मोहकता और मादकता तथा असंतोष और अभाव का जो वायुमंडल बँध जाता है उसी में न केवल साँस लेता हूँ और न जीता हूँ बल्कि वास्तव मे तद्रूप हो जाता हूँ। भूल जाता हूँ कि यह हृदय का खेल है और द्रष्टा के लिये उचित नहीं है कि अभिनय देखते हुए अपने व्यक्तित्व को बिसार दे। पर कौन जाने कि द्रष्टा कौन है, क्या है उसके व्यक्तित्व का स्वरूप ! हृदय ही हृदय का द्रष्टा है अथवा कोई और ? कहीं वृत्ति ही तो वृत्ति की लीला नही देखती ? लीला करने वाला और उसे देखनेवाला, भावो का उद्रेक करनेवाला और उसकी अनुभूति का आधार, सब एक ही है या अनेक ? इनका समाधान मैं नही कर पाता पर सोचता हूँ कि व्यर्थ ही इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढने के पचड़े में कौन पड़े ? मैं इतने से ही अपना काम निकाल लेता हूँ कि मनुष्य रहस्यमय प्राणी है। आज मानव से अधिक रहस्यमय पदार्थ कदाचित् विधिप्रपंच में दूसरा नही है।

वृत्ति ही तो है जो तुमसे बातचीत करने के लिये और तुम्हारे पास पहुँचने के लिये मुझे विकल कर देती है। सोचने लगता हूँ 'महीनों बीत गए पर तुम्हारा योगक्षेम भी अभिज्ञात नही।' फिर तो विचार का प्रवाह मोड़े नहीं मुड़ता। तुम्हारी उमर के बच्चे माता पिता के मधुर वात्सल्य मे ही पलते है। सहज ही उन्हें उनके स्नेह, संरक्षण और सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है। विकासोन्मुख जीवनकलिका यदि रसधार से सिचित न हुई तो भला कैसे परिस्फुरण का सुख प्राप्त करेगी ? सहसा ध्यान आ जाता है कि तुम मातृसुख से भी वंचित हो। अनायास मन में आता है कि यह स्थिति तुम्हें कहीं अप्रत्यक्ष रूप से, अनजान मे ही

सही, नैराश्य और अभाव की अनुभूति न करा रही हो। इसी प्रकार की न जाने कितनी कल्पनाएँ उठती है, भावावेश का सृजन करती हैं और चित्त को आर्द्र कर जाती है। कही एक कोने से मनकी इस गति पर कोई हँसता भी रहता है। ऐसा लगता है मानो कोई कह रहा हो कि यह तुम्हारी अपनी कल्पना है, अपना मोह है जगत् में न जाने कितने बच्चे इसी प्रकार माता पिता की सहायता अथवा संरक्षण और स्नेह के बिना जीते हैं, बढ़ते हैं और जीवन का निर्माण करते है। वही आवाज कहती है कि भावो की अपनी दुनिया बनाकर विचरना चाहते हो तो भले ही विचरो पर वास्तविकता का इस हाय हाय से कोई संबंध नही है। लड़के अपनी अलग दुनिया में रहते है। उनका अपना क्षेत्र होता है। उनकी लालसा, भावुकता और आकांक्षा तथा उनकी दिलचस्पी की अलग दिशा और क्षेत्र होता है जो उनके तत्कालीन जीवन के अनुकूल होता है। वे उसमें मस्त रहते है, उसी के घात प्रतिघात से सुखी या दुखी होते है और उन्ही समस्याओं के हल करने में अपना समय लगाते है। उनसे दूर बैठा हुआ उनका पिता, अपने सहज पुत्रस्नेह से कितना विकल होता है और विकल होता भी है या नहीं इसमें उन्हें कोई रस नही है। उस कहानी को वे यदि कभी सुन पावें तो भले ही उनका कुछ मनोरंजन हो जाय पर इससे अधिक उसका कोई मूल्य उनकी दृष्टि मे हो ही नही सकता।

मैं समझता हूँ कि मेरे हृदय की इस आवाज में भी सत्य का अंश बहुत है। मैं जानता हूँ कि एक समय था जब मैं भी तुम्हारी उमर का ही किशोर था। आज समीक्षा करता हूँ तो सोचता हूँ कि माता पिता के स्नेह का अधिकारी तो मैं भी था और हूँ पर कभी इस बात की चिता तो नही की कि मेरे प्रति उनके हृदय में कितना अगाध स्नेह है, मेरे सुख और शांति तथा आनंद के लिये वे कितने उत्सुक हैं तथा मेरे योगक्षेम के लिये उनके अंतस्तल में कितनी भावुकता और उत्कंठा रहती है। फलत: यह सच है कि मेरी आकुलता विकलता में न तुम्हें दिलचस्पी हो सकती है और न मैं समझता हूँ कि दिलचस्पी होनी चाहिए। पिता और विशेषकर माता का स्नेह तो एकांगी होता है। वह अपने स्नेह का मूल्यांकन करना नहीं चाहता। वैसा करना तो उस पुनीत भाव का अपमान करना है। वात्सल्य का भाव अपनी विशिष्टता रखता है और विशिष्टता यही है कि उसका कोई कारण ढूँढकर पेश नहीं किया जा सकता। वह सहज है। उसमें न बदला पाने की इच्छा होती है, न कोई आकांक्षा, न कोई स्वार्थ। पुत्र के लिये पिता का हृदय भी अपनी अलग दुनिया बनाता है, उसी दुनियाँ में रहता है और इस बात की चिता या इच्छा भी नही करता कि कोई उसकी ओर देखे और उसका मूल्य आँके। हृदय की वृत्तियों का आखिर यही तो खेल है। कोई चाहे या न चाहे पर उसका पितृहृदय सहज ही अपने बच्चे के लिये विकल रहेगा, उसकी चिंता किया करेगा और उसके मंगल की कामना करता हुआ मस्त होगा। इतना ही नही बल्कि वह उस स्थिति में जिसमे मैं पड़ा हुआ हूँ, अपने बच्चों के संबंध में बहुधा साधार और निराधार कल्पना कर करके परेशान होता रहेगा, कभी आशंकित होगा, कभी विचलित, कभी उनके निकट होने के लिये उत्कंठित होगा और कभी बात करने के लिये उत्सुक।

विचार करता हूँ तो अपने ही ऊपर आश्चर्य होने लगता है, कैसा है मनुष्य का व्यक्तित्व ? एक ओर जो मानव महान् पथ का पथिक होता है, ऊँचे आदर्शों

के लिये जीवन की बलि हँसते हँसते चढ़ा देता है, मोह और अनुराग के बंधनों को छिन्नभिन्न करके स्वयं अपने हृदय की सारी कामना और लालसा को दूर कर देता है, वही दूसरी ओर हृदय की छोटी छोटी लाल लहरियों में लहराता हुआ असहाय की भाँति सह्य वृत्तियों के लपेट से घायल होकर कराहता दिखाई देने लगता है। कैसा द्वंद्व है, कैसा रहस्य और कैसी है विडंबना! बंबई में ८ अगस्त की रात को मैंने भी अपने तुच्छ जीवन के सबंध में एक दृढ़ संकल्प किया। सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने के प्रस्ताव पर अपना मत उसके पक्ष में प्रदान करने के पूर्व समस्त बातों पर पूरी तरह विचार कर लिया था। किसी आवेश में आ कर कार्य समिति के प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया था। इस निर्णय का क्या परिणाम देश के लिये होगा और उसका क्या प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ेगा तथा आज से मुझे क्या करना होगा यह सब चित्र की भाँति मेरे विचारपथ में स्पष्ट हो गया था। मैंने समझ लिया था कि आनेवाले भयानक तूफान में मुझे कूदना है। ससार, जीवन, परिवार, बाल बच्चे तथा भविष्य की समस्त सुखकल्पना को आज सदा के लिये छोड़ देने का निश्चय करके ही कूदने के लिये आगे बढ़ा जा सकता था। परिस्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के बाद मन ने सकल्प किया कि राष्ट्रीय परित्राण के इस गौरवपूर्ण ऐतिहासिक महायज्ञ में 'स्वाहा' का उच्चारण करते हुए अपनी भी अकिंचन आहुति डालना ही मेरे जीवन की सार्थकता है। कमेटी ने प्रस्ताव स्वीकार किया। रात दस बजे अधिवेशन समाप्त हुआ। हम युक्तप्रात के प्रतिनिधियों को गांधी जी का आदेश मिला कि प्रातःकाल ८ बजे (९ अगस्त को) बिरला भवन में जाकर उनसे भेंट करें। वे भावी युद्धयोजना के सबंध में हमे आदेश देते। रात को वापस आकर जब अपने डेरे पर लेटा तो मुझे स्मरण है कि भविष्य की चिंता ने आ घेरा।

तुम्हारी बीमारी का ध्यान आया, तुम लोगों के मातृविहीन होने की याद आई, तुम्हारे जीवन के प्रति अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान हुआ, जिस पथ पर जाना था उसकी कठिनाइयों का चित्र भी मूर्तिमान होकर सामने खड़ा हो गया। पर हृदय की गति को क्या कहूँ? तमाम बातें सामने आईं और धीरे धीरे हटती गईं। सब का उत्तर आप से आप मिलता गया। सामने एक लक्ष्य था जिसके प्रकाश में मानो मोहांधकार नष्ट होता गया। हृदय कहता कि यह विकलता कैसी? जीवन का मूल्य इसी में है कि वह अपने प्रयोजन को, अपनी सार्थकता को सिद्ध करे। अवसर आने पर बगलें झाकनेवाला तो मृत्यु आने के पूर्व ही मर गया। फलतः मार्ग स्थिर हो गया। प्रातःकाल बिरला भवन पहुँचने का निश्चयकर मैंने निश्चित हो निद्रा की शरण ली। इधर घटनाओं का क्रम तीव्र वेग में परिचालित था। हम मे से बहुत से जगे भी नहीं थे कि गाँधी जी और कार्यसमिति के सदस्यगण गिरफ्तार कर लिए गए। सुबह नींद खुली तो देखा कि विद्रोह का बादल अरब महासागर के तट से उठकर भारतीय क्षेत्र में एकत्र होने लगा है। बंबई में ९ अगस्त के प्रभात का दृश्य जीवनपर्यंत न भूलेगा। सारे टेलीफोन के तार काट दिए गए थे। चारों ओर सनसनी थी। सरकारी दमन का यंत्र विद्युत् वेग से चल पड़ा था। एक एक करके बंबई के सारे कांग्रेस कार्यकर्ता भी अरुणोदय के पूर्व ही पकड़

लिये गये थे। गाँधी जी और कार्यसमिति के सदस्य नेता तो गिरफ्तार करके लुका, छिपाकर बंबई के बाहर अनिश्चित स्थान को भेज दिए गए थे। जलनिधि की तरंगो में बाल सूर्य अभी अपनी रक्ताभा प्रदान भी नही कर पाया था कि बंबई के विशाल राजपथों में भयावनी महामारी की भाँति यह समाचार फैलने लगा कि गाँधी जी तथा नेतृवृंद गिरफ्तार कर लिया गया। सब समाचार जानने के लिये मैं भी झटपट बिरला भवन की ओर चल पड़ा। देखते देखते चारो ओर लाली का साम्राज्य छाता दृष्टिगोचर हुआ। समुद्र में सूर्य की लाली थी, बंबई का अंबर सिंदूररंजित था और धरणी देशभक्तों के शोणित से लाल थी। जिधर जाता पुलिस के डंडे बेतहाशा चलते दिखाई देते। नवयुवको के झुंड मस्ती में उमड़ते चले जा रहे थे। बाजार बंद थे। ट्रामगाड़ियाँ, बसें और विक्टोरिया जहाँ कहीं भी निकलकर पहुँचती थी वहीं खड़ी हो गई थी। 'अंग्रेज निकल जायँ' और 'भारत आजाद है' को प्रचंड ध्वनि अंतरिक्ष को कँपाए दे रही थी। मैने देखा कि राष्ट्रीय अंतर्ज्वाला का भीषण विस्फोट आरंभ हो गया है। जो प्रदर्शन हो रहा था उसका न आयोजन किया गया था, न प्रचार; न कोई संघटित प्रयास था, न संचालन। जो था वह क्रांतिधारा की उत्ताल तरंग थी, क्षोभसागर की प्रचंड बड़वाग्नि थी जो आज अनायास विकराल रूप धारणकर निकल पड़ी थी।

सायंकाल शिवाजी पार्क मे एक लाख से अधिक नर नारी एकत्र थे। जिधर देखो मुंड ही मुंड दिखाई दिया। पार्क को पुलिस और फौज के सिपाहियों ने पहले से ही घेर लिया था। उनकी चमकती हुई संगीनों की पंक्ति महाविभीषिका की लपलपाती जिह्वा के समान हिल उठती थी। पर भीड़ हटने के लिये तैयार न थी। जो आता पार्क मे घुसने को चेष्टा करता। डंडे चले, संगीनें भारतीय शहीदों के शरीरों में घुसीं और देखा कि थोड़ी ही देर बाद बंदूकें दगने लगी। गोलियाँ सनसनाती हुई निकली, लोग धड़ाधड़ गिरे पर भीड़ न हटी। अंत में गैस बमों का प्रयोग किया गया। ये गैस बम फूटकर आँखों में इस प्रकार लगते जैसे किसी ने मिरचा भर दिया हो। गले में जाकर उनका धुवाँ दम घोटने लगता। पर जिस प्रतिरोध की भावना ने जनसमूह को विक्षुब्ध किया था उसीने उसे काल के भय से भी निर्मुक्त कर रखा था। सशस्त्र और पशुबलाश्रित सरकार का हृदयहीन यंत्र एक ही गर्दिश में अशस्त्र भारतीयों के उच्चतम भावो और आदर्शो को पीस डालने का यंत्र बन चुका था। उसे न ममता थी और न दया। लज्जा भी न थी कि निहत्थों का रक्तपात अपनी संगीनों से कराना मानवता की हत्या करना है। ब्रिटिश बाहुबल का अच्छा प्रदर्शन था। जो बाहु मलाया और बर्मा की रक्षा में कुंठित हो गया था, जो शस्त्र हाँगकाँग की ब्रिटिश पताका को बचाने में निकम्मे सिद्ध हुए थे और वीरता डकर्क, फ्रांस और यूनान मे अपना स्वरूप प्रकट कर चुकी थी वही अपने बल की आजमाइश निहत्थे, दबे हुए और दुर्बल भारतीयों के साथ कर तोष और प्रसन्नता प्राप्त करती दिखाई दी। ९ अगस्त का यह दृश्य और उसके बाद की घटनाएँ जो इस देश में घटी मानव इतिहास के घृणित अध्याय के रूप में सदा वर्तमान रहेंगी और भावी इतिहासकार उसपर अपना फैसला देंगे।

मैं यह कह रहा था कि ये दृश्य मेरे नेत्रों के सामने आज भी हैं। मैं उसी दिन

रात के समय काशी के लिये रवाना हो गया। उसी वक्त समझ लिया था कि अब मेरे भाग्य मे क्या बदा है। १० अगस्त को अर्धरात्रि को प्रयाग पहुँचा ही था कि ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिये मुझे गिरफ्तार कर लेना उचित समझा गया। बरसात की रात प्रचड रूप मे अपने को काले परिधान मे ढँके हुए थी। पानी भी बेतरह बरस रहा था। मुझे एक बार तुम्हारी बीमारी का स्मरण बड़े वेग से हुआ। हृदय मे आया कि एक बार तुम्हे देख लिया होता तो अच्छा था। पर तत्क्षण हृदय के दूसरे कोने ने मानो झकझोर दिया। किसी ने कहा कि यह समय आर्त होने का नही है। स्वेच्छा से तुमने अपनी नौका स्वयं फूँक दी है। अब उस तमाशे को मस्त होकर देखने मे ही तुम्हारा गौरव है। पुलिसवाले लारी मे बिठाकर ले चले। नैनी जेल के फाटक पर पहुँचा तो रात को १० बज रहे थे। भीतर दाखिल हुआ और थोड़ी देर बाद अपनी कोठरी मे पहुँचा दिया गया। इस कोटरी में महीनों बीत गये, जीवन का क्षण क्षण बीतता जा रहा है। मेरी यह दुनियाँ अपना निराला ही रंग और रूप रखती है। बाहर से कोई सबंध नही। यारो ने जिदा ही कब्र मे गाड रखा है। पर चेतना मौजूद है। सोचता हूँ कि कैसा मामला है। मै ही तो हूँ जो अपने प्राण को होम देने का सकल्प करके बबई से चला था। सोच लिया था कि इस प्रखर राष्ट्रीय प्रवाह मे गोते लगाना है फिर चाहे उसका परिणाम कुछ ही क्यो न हो। जीवन नैया किसी घाट किनारे लगेगी तो ठीक ही है और न लगे तथा विनाशक आवर्तो मे पड़कर तल मे समा जाय तो भी ठीक ही है। विलुप्त होते होते भी ऊपरी सतह पर वह कुछ बुलबुलो की सृष्टि तो कर ही जायगी। उसकी इतनी सार्थकता भी क्या कम है?

महान् आदर्श और विकट पथ के प्रति जिस हृदय में इतना उत्माद था वही हृदय तो है जो इस रात्रि में तुमसे बोलने और तुम्हारे निकट होने के लिये विकल है? अपना यही रूप है जिसे देखकर आश्चर्य होने लगता है। कैसा तमाशा है? विचार करो कि यह मनुष्य कैसा विचित्र प्राणी है। मैं ही हूँ जिसने एक नहीं अनेक बार सभामंचों से तथा समाचारपत्रों के स्तंभो से देश की जनता का आवाहन किया है और ललकारा है कि 'उठो! मातृभूमि की मुक्ति के महायुद्ध में कूद पड़ो। आवश्यक हो तो हँसते हँसते प्राणों का विसर्जन कर दो।' यदि एक भी व्यक्ति मेरी इस पुकार से प्रभावित न हुआ हो तो भी नैतिकता और कर्तव्य की यह माँग थी कि स्वयं उस पथ का अवलंबन करूँ जिसका प्रचार करता रहा हूँ। अपने और संसार तथा सत्य के प्रति मेरा यही धर्म था। आज हजारों ऐसे है जिनके घर का दीपक इस तूफान के झटके ने बुझा दिया। अनेक नवयुवक गोलियो के शिकार हो गए। न जाने कितनो का कलेजा संगीनों ने फाड़ डाला। कितनी माताओं की गोद सूनी हो गई, न जाने कितने बच्चे अनाथ हो गए। मैने अथवा और कितनो ने कब इस पर आँसू बहाया होगा? थोड़ा आगे बढो और देखो कि आज महायद्ध की आग से सारा ससार जल रहा है। तुम इस युद्ध का समाचार बड़े शौक से पढते हो और मैं जानता हूँ कि अपनी राय भी दिया करते हो। पर इस युद्ध ने जो महासंहार किया है और कर रहा है उसकी ओर जैसे किसी का ध्यान ही नही जाता। करोड़ों नौजवान जो इस धरती के खिलते हुए मनमोहक पुष्प थे इस पिशाच के जबड़ों में

समा गए। बसे बसाए नगर ढूह हो गए और अपने साथ साथ लाखो की मधुर आशा, कोमल कल्पना, सुखद स्मृति लेते गए। जिन घरो मे लोगों का बचपन बीता है, जिनमें उन्होंने जीवन के सुख की घड़ियो का अनुभव किया है और जो उनके हृदय की लीला के स्थल रहे है वे आज निर्दयतापूर्वक पीसपास कर धूल कर दिये गये है। माताओं ने अपने हृदय के टुकड़े दिए और कुलललनाओं ने अपने सौभाग्य सिंदूर की भेंट चढ़ाई। पृथ्वी मानव शोणित से लाल कर दी गई। भयानक विनाश, प्रचंड संहार और प्रलय यही इस युद्ध का स्वरूप है। पर कब मैंने इसपर दो बूंद आँसू टपकाए ? वही मैं, आज इसलिये विकल होता हूँ कि तुम मातृहीन हो, वात्सल्य के सुख से वंचित हो। आदर्श और कर्तव्य के नाम पर विरक्त हुआ हृदय किस प्रकार दुर्बलताओं और आकर्षण मे बद्ध है। यह द्वंद्व और अपना यही विरोधी तत्वों से बना स्वरूप घोर आश्चर्य और परेशानी मे डाल देता है।

फिर यह युद्ध कोई नयी वस्तु नहीं है। आज से ३० वर्ष पूर्व ऐसा ही महायुद्ध एक बार और हो चुका है। उस समय तुम्हारी उमर के लोगों का जन्म भी नहीं हुआ था अत तुम्हारे लिये युद्ध विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना के सिवा और कुछ नही है पर वह घटना भी महाकाल का नर्तन ही थी। मानवता को उसने विनाश, दैन्य, दरिद्रता और दुःख के सिवा और क्या प्रदान किया ? सभ्यता की रक्षा के लिये सभ्यता की हत्या की गयी। श्री और संपत्ति तथा जगत् की उन्नति के नाम पर लाखों नवयुवकों का मस्तक घास की तरह काट डाला गया, व्यवस्था की स्थापना के लिये तत्कालीन व्यवस्था का गला घोंट दिया गया और लोकतंत्र का सृजन करने के लिये लोकतन्त्र को फाँसी दे दी गई। चार वर्ष तक लोमहर्षक पैशाचिक प्रवृत्तियाँ उच्छृंखल होकर नाचती रहीं इसलिये कि विश्व में न्याय का साम्राज्य स्थापित हो। उसके गर्भ से जो न्याय उत्पन्न हुआ वह वार्साई का महा अन्याय था। युद्धों को सदा के लिये समाप्त करने तथा शांति की स्थापना के लिये मनुष्य ने मार्ग ग्रहण किया अशांति और संघर्ष का ! देखता हूँ न शांति स्थापित हुई, न युद्ध का लोप हुआ। न सभ्यता की रक्षा हुई, न जगत् से भूख, दरिद्रता और अभाव का नाम-निशान मिटा और न मानव मानवीय हुआ। उसी वर्साई के गर्भ मे भावी युद्ध का बीज था। वह बीज अंकुरित हुआ, उसका विकास हुआ और आज उसकी विषमयी छाया में यह भूमंडल छार छार हो रहा है। आज तो विश्व छिन्नमस्तक नरमुंडों से भर उठा है जो पृथ्वी में प्रवाहित हुई रक्तधारा में इधर उधर उतराए ए है। मानव शोणित तर्पण कर रहा है पर मालूम नही कि किसको तृप्ति के

अपने अहंकार और स्वार्थ की तृप्ति के लिये, अपने हृदयस्थ दानव को तृप्ति के लिये, अपनी सनक और अपने दर्प को तृप्ति के ही लिये यह महा अनर्थ हो रहा है अथवा और कोई लक्ष्य है ? जगत् त्राहि त्राहि कर रहा है, भूखी नंगी जनता पीसी जा रही है, उसका दुर्दांत शोषण हो रहा है ! वैज्ञानिको ने ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध विद्रोह करके मनुष्य की महत्ता स्थापित की। प्रकृति को चेरी बनाया, उसे अपने संकेत पर नचाने का दावा किया। घोषणा की गई कि विज्ञान और बुद्धि-वाद के द्वारा जगत् को धार्मिक अंधविश्वास से मुक्त करके जीवन को सरल, आनंद-मय और सुखमय तथा मेदिनी को शांतिमयी, मंगलमयी और ऐश्वर्यमयी बना दिया जायगा !

पर खुदा को हटाकर मनुष्य ने शायद शैतान को ही एकछत्र राज्य प्रदान कर दिया। वही विज्ञान आज मानवता के लिये अभिशाप हो गया है। अपने हाथों अपने विनाश का कैसा अभिनव उपक्रम हो रहा है ! सुख, शाति, संतोष नाम की वस्तु है कहाँ ? मिथ्याभिमान, लोलुपता और पाखंड के सिवा और कुछ तो दिखाई नही देता। सोचने लगता हूँ कि मनुष्य कैसे इतने नीचे गिरता है। जो प्राणी विधिविधान के रहस्य का उद्घाटन करने की चेष्टा करता हो, जिसने प्रकृति के पट को उघाड़कर उसके स्वरूप को समझने मे सफलता प्राप्त की हो, जिसने महती संस्कृतियों, ऊँचे आदर्शो और पवित्र सिद्धांतो की स्थापना की हो और जिसने बुद्धि तथा पुरुषार्थ की सार्थकता सिद्ध कर दी हो तथा जगत् को अपने जीवन की उन्नति और उत्कर्ष का साधन बनाया हो, वह कैसे अपने बड़प्पन को भूलकर पशुतुल्य व्यवहार करने लगता है और तुच्छ प्रवृत्तियो से पराजित हो जाता है। बहुधा मैं अनुभव करने लगता हूँ कि बेचारे मनुष्य से मत्र शत्रुता का व्यवहार करते है। मनुष्य तो मनुष्य के विरुद्ध लड़ाई छेड़े हुए है ही ईश्वर भी उसके विरुद्ध युद्ध छेड़े हुए है। नरमेध की प्रेरणा नर हृदय मे उत्पन्न करके वह क्यो उनके विनाश की व्यवस्था करता है ? देखता हूँ कि प्रकृति ने भी उससे अपनी शत्रुता घोषित कर दी है। कही भूकंप, कहीं तूफान, कहीं महामारी और कही जलप्लावन, कही अकाल, और कही अभाव, असख्य प्राणियो का संहार प्रति वर्ष करता रहता है। सोचने लगता हूँ कि सबने मिलकर इस दयनीय द्विपदप्राणी को अपने क्रोध का शिकार न जाने क्यो बना रखा है ? पर कभी कभी इसके विपरीत भी सोचने लगता हूँ। क्या मनुष्य ने ही सबके विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊँचा नही किया है ? उसने अपने सजातियों से तो संग्राम ठान ही लिया है पर ईश्वर के अस्तित्व तक को अस्वीकार करके उसे चुनौती देता है, संशय और सबकी खोद विनोद करने की प्रवृत्ति दिखाकर सबसे ऊपर अपनी बुद्धि की सत्ता स्थापित करता है। यह अद्भुत प्राणी अपने चरणो से अनत प्रकृति की असीम परिधि को नाप लेने के लिये अग्रसर होता है। पहाड़ों की चोटियाँ, समुद्र के अतल तल और पृथ्वी का गर्भ सब उसकी समीक्षा के अधीन हो जाते है और परम रहस्यमय का रहस्य भी सुरक्षित नही रहने पाता।

सबसे युद्ध और संघर्ष का सूत्रपात करके मानव ही कही तमाम बुराइयों और दुःखों का कारण तो नहीं हो रहा है ? पर दुःख का कारण हो अथवा न हो, ये बातें मानव के साहस और स्वाभिमान तथा उसकी नैसर्गिक शक्ति की ओर अवश्य संकेत करती हैं। पर जो इतना शक्तिशाली है उसकी दुर्बलता देखकर चकित हो जाता हूँ। अपने बच्चों का हास और उसकी क्रीड़ा देखने के लिये, अपनी प्रियतमा के सम्मुख घुटने टेककर आत्मसमर्पण करने के लिये, स्नेह, राग और ईर्ष्या तथा घृणा, सुख और दुःख के अपूर्व बंधनो का अनुभव करने के लिये वह तनिक तनिक से प्रलोभनो को पाकर मुँह के बल कैसे गिर पड़ता है। अपने ऊपर पड़े हुए इस पर्दे के पीछे के अपने ही रहस्यमय स्वरूप को मनुष्य अब तक नही पहिचान पाया, यद्यपि अपने से दूर, करोड़ों मील दूर के सितारो और ग्रहो तक उसकी ज्ञानदृष्टि पहुँच जाती है।

पर अब पत्र समाप्त कर रहा हूँ। रात के डेढ़ बज चुके है। रेंड़ी के तेल का

दीया अपनी इहलीला समाप्त ही करनेवाला है। मेरा काम भी हो गया। वास्तव में तुम्हारे निकट होने की चाह थी, तुमसे बात करना चाहता था, उस प्रयत्न में अनायास ही दृष्टि अंतर्मुखी हो गई। मेरी दृष्टि ने अपनी समीक्षा आरंभ कर दी। मैंने देखा कि दोनों काम हो गये। समीक्षा हुई और तुमसे दूर बैठे बैठे भी संबध स्थापित कर लिया। मुझे संतोष प्रदान करने के लिये यह काफी था। अब बस! तुम भी विश्राम करो।

तुम्हारा
बाबू

## ७

नैनी सेंट्रल जेल
ता०..............

प्रिय लालजी !

रात काफी बीत चुकी है। चारों ओर गहरा सन्नाटा छाया हुआ है। कहीं दूर कदाचित् फाटक पर का घंटा अभी टन् से दो बार बजा है। उसी से यह जान सका हूँ कि रजनी का चौथापन आने ही वाला है। जाड़े की ऋतु समाप्त होने को आई फिर भी कुछ ठंढ पड़ रही है। चंद्रमा कुछ काल के लिये आकाश में गश्त लगाकर संभवतः विश्राम करने के लिये अपना मुँह ढक चुका है। सन्नाटे के साथ साथ अंधकार का विस्तृत साम्राज्य छाया हुआ दिखाई दे रहा है। घंटे की आवाज के साथ साथ न जाने मेरी आँखें क्यों खुल गई। शायद रात्रि के पहले ही पहर में करुणामयी निद्रा ने अचेतना की चादर उढ़ाकर कुछ घंटे के लिये मुझे इस स्थान और अपने इस वर्तमान अस्तित्व से विस्मृत कर दिया था। पर कुछ ही समय के बाद, मानो मुझसे रुष्ट होकर, उसने भी प्रस्थान कर दिया। बार बार चेष्टा करने पर भी अब आज उसका आश्रय पाने में असमर्थ हो रहा हूँ। पड़े पड़े आँखें खोलकर अपने चारों ओर देखा तो यह पाया कि बैरक में रहनेवाले मेरे सब साथी खुर्राटे ले रहे है।

इस घोर शांति के हृदय को विदीर्ण करती हुई किसी बैरक से अभी किसी नंबरदार की आवाज आई और मेरे कान में तीर की तरह घुस गई। 'ताला, जॅंगला, लालटेन और पूरे कैदी ठीक हैं हुजूर'। घड़ी में चाबी लगानेवाला जमादार अपने साथी 'छ घंटे' के साथ अभी अभी हमारे बैरक का चक्कर लगा गया है। हम लोगों पर पहरा देनेवाले नंबरदार ने उससे रिपोर्ट लगाई है और कहा है 'सब ठीक है हुजूर'। 'नंबरदार' कैदी होते हैं जो कैदियों पर ही जेल अधिकारियों की ओर से अफसर नियुक्त कर दिए जाते हैं। ये रात में बैरकों में कैदियों पर पहरा रखते है और प्रति आध घंटे में 'सब ठीक है' की रिपोर्ट जोर से चिल्लाकर बढ़ा देते हैं। जेल में 'रिपोर्ट बढ़ाना' एक खास बात है जो बड़ी प्रचलित है। कैदियों की यह गिनती जोर से की जाती है। 'एक, दो तीन, चार' इस प्रकार चिल्लाते हुए प्रत्येक कैदी के सिर के पास जाया जाता है, उसे देखा जाता है और गिनती के बाद रिपोर्ट बढ़ा दी जाती है। सारी रात यह खुराफात होती रहती है। हम लोग तो राजबंदी है इसलिये हमारी गिनती जरा धीरे से की जाती है पर साधारण कैदियों की गिनती करते हुए तो नंबरदार उन्हें जगाता है, बहुधा उठकर बैठने का हुक्म दे देता है। पर यही एकमात्र पहरा नहीं है। सारी रात घड़ी में चाभी भी लगती चलती है। यह न समझना कि यह घड़ी समय बतानेवाली तुम्हारी 'रिस्टवाच' या 'जेबी घड़ी' है जिसमें चाभी भी लगाई जाती है। रात को पहरा देनेवाले जमादार की कमर में एक यंत्र बँधा

होना है। चमड़े की पेटी में चमड़े का एक डिब्बा सा बँधा होता है। तुमने नापने के लिये नाप करने का वह फीता तो देखा होगा जो चमड़े के एक चिपटे और गोल डब्बे में लपेटा रहता है। बस उसी डब्बे की तरह इस यंत्र की भी शकल होती है। बैरको के बाहर एक छोटा सा ताखा होता है जिसमें लोहे की एक भंडरिया लगी होती है। इस भंडरिये में लोहे के चेन से बँधी एक छोटी सी ताली लटकती रहती है। इसी ताली को उस डब्बे के मुँह मे डालकर घुमा दिया जाता है। डब्बे के भीतर उस ताली के घुमाने का निशान कागज पर बन जाता है।

एक जमादार के जिम्मे ५, ६, ७ तक बैरिकें होती है जहाँ जाकर उसे हर बैरक के बाहर लटकती हुई ताली को डब्बे में डालकर घुमाना पड़ता है। डब्बे के भीतर का इंतजाम कुछ एसा होता है कि उसमें पड़े निशान को देखकर यह अंदाज लगा लिया जाता है कि जमादार ने हर बैरक की गश्त की या नही। एक बैरक से दूसरे बेरक तक पहुँचने में जमादार को पाँच मिनट लगते हैं और इस प्रकार सातो बैरकों का चक्कर काटकर ३५ मिनट में वह फिर उसी बैरक पर पहुँच जाता है जहाँ से अपना काम आरंभ किए होता है। इस प्रकार बेचारा जमादार बराबर छ घंटे तक चलता रहता है। यदि ३५ मिनट के बजाय वह ४० मिनट मे पहुँचे तो डिब्बे के भीतर पड़े निशान से यह समझ लिया जाता है कि वह निर्धारित समय पर जहाँ पहुँचना चाहिए वहाँ नही पहुँच सका। फिर तो उससे जवाब तलब होगा, पेशी होगी, जुर्माना होगा। जमादार के साथ साथ एक नंबरदार भी लालटेन लिए घूमा करता हैं। ६ घंटे तक उसकी ड्यूटी भी होती है इसलिये उसे '६ घंटा' के नाम से ही पुकारते है। इस घड़ी की चाल में कोई फर्क कभी नही पड़ता। गर्मी हो चाहे सावन की भयावनी रात, पानी पड़ रहा हो या पत्थर, कड़ाके की सर्दी गिर रही हो या पाला, बराबर आदमी की कमर में बँधी यह घड़ी चलती रहती है। जिस बैरक के सामने जमादार पहुँचता है उस बैरक का नंबरदार अब गिनती करके 'सब ठीक है हुजूर' की रिपोर्ट लगा देता है। मानवसंतान की स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिये यह विकराल आयोजन; कैदी मनुष्य है, फिर भी उस पर इतनी निगरानी, इतनी चौकसी मानो वह किसी भयावने प्राणहारी हिंस्र पशु से भी अधिक भयावना हो। मनुष्य ने मनुष्य का जीवन कैसा बना रखा है! इस समय अपने को सात तालों के अंदर बंद पाता हूँ। बैरको में शाम को बंद होने के समय गिनती होती है। गड़रिये भेड़ बकरियों को उनके कटघरे मे हाँकते समय किस प्रकार गिनते है यह शायद तुमने भी देखा होगा। बिलकुल वही हाल हम लोगों का भी होता है। जमादार होता है, नंबरदार होते है, जेलर होते है, सबके सामने हम लोग सायंकाल ६॥ या ७ बजे बैरक में हाँक दिए जाते हैं। जब घुसने लगते हैं तब एक एक आदमी की गिनती कर ली जाती है। बैरक का दरवाजा बंद कर दिया जाता है। इसके बाद सारी रात आध आध घंटे पर हम गिने जाते है और रिपोर्ट लगती चलती है। सुबह खुलने के वक्त कैदी बैरकों से ऐसे बाहर निकलते है जैसे दरबे से कबूतर। पर निकलने के समय फिर भी गिनती होती है।

मनुष्य मनुष्य समझा ही नही जाता। जेल में यहाँ कहावत कही जाती है कि कैदी अगर भाग गया तो शेर भाग गया और मर गया तो मच्छड़ मर गया। वास्तव

में वह मनुष्य नहीं समझा जाता। या तो भयानक शेर है या मच्छड़ जिसे मसलकर धूल में मिला देना भी गुनाह नही है। नीद खुल गई और अपने विस्तर पर पड़े पड़े घड़ी की पादध्वनि सुन रहा हूँ। प्रति पाँच मिनट में किसी न किसी बैरक से आनेवाली 'सब ठीक है' की चिल्लाहट तो कलेजे में धँस जाती है। सोचता हूँ कि सचमुच क्या 'सब ठीक है' ? क्या यही समाज, यही व्यवस्था और यही विधान मनुष्य की मानवता द्योतक है ? कानून किसी को चोर समझकर, किसी को डाकू कहकर और किसी को जालसाज घोषितकर उसे दुनिया से अलग, समाज से अलग और प्रकृत जीवन से अलग कर इस नरक में ला पटकता है, पर क्या कभी उसने यह भी सोचा कि किसी चोर की चोरी, डाकू की डकैती और जालसाज की जालसाजी के लिये समाज, समाज के विधान, आज के आर्थिक और राजनीतिक संघटन तथा जो समाज के अगुवा हैं उनका स्वार्थ किस सीमा तक उत्तरदायी है ? जड़ कानून तो क्या सोचेगा पर कानून बनानेवाले और कानून का परिपालन करनेवालों ने क्या कभी यह विचार भी किया है कि अपनी आँखों के सामने पेट की ज्वाला से तड़पते अपने बच्चे को देखकर मनुष्य कैसे पागल हो जाता और कैसे अपनी मृतक माता के लिये कफन का इंतजाम न कर सकने के कारण मनुष्य क्षुब्ध हो जाता है ? आज जिन्हें चोर, डाकू और जालसाज कहकर समाज का शत्रु घोषित किया गया है उन अभागो के जीवन की ओर कब किसने दृष्टिपात किया है ? वे भी मनुष्य है, उन्हें भी माया ममता है, सुख दुख की अनुभूति है और अपने बच्चों से प्रेम है। किन परिस्थितियों ने उन्हें चोर बनाया और वस्तुतः उन परिस्थितियों के लिये जिम्मेदार कौन है ? क्या उसकी जिम्मेदारी उन्ही पर नही है जिन्होने अपनी तृप्ति और पूर्ति मे सफलता पाई है; दूसरों को पीसकर, उन्हें अभाव और अतृप्ति में जलने के लिये छोड़ दिया है। क्या आज वे ही स्वयं बड़े चोर नही है ? भले ही वे अपनी चोरी कानून की दृष्टि मे जायज करके मस्ती लूटें पर मनुष्यता और न्याय भावना उन्हें कब निर्दोष कहेगी फिर भी नंबरदार कहता है 'सब ठीक है, हजूर' और 'हजूर' तुष्ट हो जाता है।

जेल में चोर दंडभागी बनाकर रखा जाता है पर देखता हूँ कि वहाँ ऊपर से नीचे तक दिनदहाड़े चोरी होती रहती है। बड़े से बड़े आफिसर से लेकर साधारण जमादार तक चोरी करते है। कोई तिकड़म करके कैदियों के पैसे वसूल करता है, कोई कोई बगिया का सुख लूटता है। नाना प्रकार के कुकर्म करते और कुचक्र चलाते उन लोगो को देखता हूँ जो तथोक्त चोर डाकुओं पर निगरानी रखने, उनपर पहरा देने और उन्हें कानूनी दंड भोगवाने के लिये सार्वजनिक कोष से अपना मासिक वेतन पाते है। कैसा खेल है ? देखता हूँ कि जो स्वयं चोर हैं वे ही दूसरे चोरों पर पहरेदारी करते हैं। इस पाखंड, इस मिथ्याचार और इस ढोंग का कोई ठिकाना है ? क्या यही मानव सभ्यता है जिस पर हम अभिमान करते हैं ? मनुष्य का सहज रूप आखिर है क्या ? क्या वह असत्याचरण, वितंड, प्रवंचन, और प्रतारण का ही पुतला है ? क्या उसकी विशेषता केवल इतने में है कि वह अपने को और दूसरे को बड़ी सरलता और सफलता के साथ धोखा देने में समर्थ होता है और इस प्रक्रिया के द्वारा अपने नग्न स्वरूप को छिपा लेता है ? क्या इस

धूलि प्रक्षेपण की कला का नाम ही सभ्यता है ? इस अंधकारपूरित स्थान में मानव-जीवन के विकृत स्वरूप को मेरी कल्पना ने इस प्रकार मेरे संमुख ला खड़ा किया कि मै स्वयं ही कॉप उठा। मेरे लिये उस विचारप्रवाह को रोकना अनिवार्य हो गया। उसका भार सहन करना मेरी शक्ति के बाहर की बात हो चली। उठकर कोठरी के झरोखे के पास आया। आवद्ध कैदी की दृष्टि असीम व्योम की ओर जा पड़ी, देखा कि पृथ्वी से अंतरिक्ष तक सारा शून्य अधकार से आवेष्ठित है। तारकमंडली अवश्य टिमटिमा रही थी। सोचा अंबर के इन झरोखों के उस पार कौनसा प्रकाश है जिसकी झिलमिल आभा अंधकारोदधि को पार करती हुई मुझ अकिंचन प्राणी तक पहुँच रही है। मेरे झरोखे ने मेरी दृष्टि के विस्तार को अपने कठोर परिवेष्ठन मे इस प्रकार घेर रखा है कि अपरिसीम नभमडल भी ससीम हो गया है। महीनों बीत गये पर निर्मुक्त भाव से रात्रि के आकाश का दर्शन कर ही नही सका हूँ। यह कोठरी सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक दुर्दांत कृत्या की भाँति मुझे बलात् अपने जबड़ो के भीतर रखती है। आज खुले आकाश का दर्शन करने के लिये तरस उठता हूँ। वे लोग कैदी के हृदय और उसकी भावना की कोई कल्पना भी नहीं कर सकते जिन्हे इस जीवन का अनुभव नही है।

मुझे तो कुछ ही महीने बीते है पर यहाँ ऐसे प्राणी हैं जिनका यौवन और बुढ़ापा सब बीत गया पर जो धवल ज्योत्स्ना से विशुभ्र हुए दिगंत तथा अंधकारावृत अनंत आकाश के आलोकित गवाक्षो के स्वरूप को, युग बीत गया देख ही नही पाए है। वे मानो उसे भूल गए है। मैं तो फिर भी अपने झरोखे से उसकी झाँकी बहुधा कर लिया करता हूँ। जेल का जीवन इतना नीरस और शून्य होता है कि उसे सरस बनाने के लिये हृदय में विशेष प्रकार का बलसंचय करना पड़ता है। कल्पना और भावुकता की शरण न लो तो स्पंदनहीन, अचेतन जड़ हो जाने में विलंब नही लग सकता। महीनो से एक स्थान का वास, चारों ओर की ऊँची प्राचीरें ! छोटी सी कोठरी, थोड़े से साथी जिनके साथ २४ घंटे का निवास। वही कठघरा, वही झरोखा, वही पेड़, वही आदमी, वही साथी ! वही घृणा तथा क्षोभ उत्पन्न करनेवाली बैरके। बैरको की इमारत का क्या वर्णन करूँ। तुम्हें कैसे बताऊँ कि उसकी शकल कैसी है ? पूरब पच्छिम या उत्तर दक्खिन एक लंबी सी इमारत ! माल-गाड़ी के डब्बे तुमने देखे होंगे जिनमे जानवर वगैरह एक साथ एक स्थान से दूसरे स्थान भेजे जाते है। कल्पना कर लो कि वैसे ही डिब्बों की लंबी कतार परस्पर जुड़ी हुई रेल की पटरी पर खड़ी है। जो उसकी शकल होगी वही शकल बैरकों की होती है। बे सिर पैर की ऊटपटांग इमारत ! प्रति क्षण वहीं रहना और महीनों रहना। जो साथ है वे महीनों से प्रतिक्षण साथ है। न कोई नवीनता है, न सनसनी, न नया कार्यक्रम, न आयोजन। वही समय से बंद होना, खुलना, खाना, पीना, सोना और पड़े रहना। इस जीवन में रस लाने का एकमात्र उपाय है पुस्तकों की शरण लेना। लेखनी हो, पुस्तक हो, सरस्वती के आराधन का अभ्यास हो तो कालप्रवाह तीव्र वेग से होता प्रतीत होता है। इस बार इसकी भी व्यवस्था नही है। फिर समय कैसे कटे ? मैने तो किसी प्रकार कुछ सामान जुटा लिए हैं। इन पंक्तियों को लिखता जाता हूँ उसी साधन के बल पर और लिखना इस जीवन का सबसे बड़ा आशीर्वाद है।

कोठरी साफ करता हूँ, कपड़े धोता हूँ। माला मेरे पास है जो बहुत से समय का भक्षण कर जाती है। जितना सो सकता हूँ सोता हूँ और बैरक के सामने की थोड़ी सी खुली जगह में कोल्हू के बैल की भाँति सुबह शाम चक्कर काट लेता हूँ। कुछ समय मित्रों से गप करने में भी बिताता हूँ यद्यपि कहने सुनने के लिये अब कोई नई बात नही बची है। यह सब करते हुए जो समय बच जाता है उसे रात्रि के अंधकारदर्शन मे बिता देता हूँ। वस्तुतः यह समय सबसे अधिक रोचक और आकर्षक होता है। बधनो से बद्ध इस स्थूल भौतिक शरीर में मन की सत्ता कितनी उपयोगी है इसका पता जैसा यहाँ मिला वैसा पहले कभी नही मिला था। उसे मैं उड़ा देता हूँ और उसकी उड़ान को अबाध हो जाने देता हूँ। स्वरूपविहीन इस पक्षी की गति अतुलनीय है। सोचते ही क्षणमात्र में वह इन समस्त बंधनों और चट्टान सी खड़ी दुर्लघ्य दीवारों की अवहेलना करते हुए न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। जगत् की कोई भौतिक शक्ति नही है जो उसके मार्ग का अवरोधन कर सके। सारी पहरेदारी और कानून कायदे तथा प्रचड बलशील सरकार की शक्ति धरी रह जाती है। वह निःसीम शून्य की परिक्रमा कर आता है, अतीत का पट खोलकर देख आता है, वर्तमान का निरीक्षण कर आता है, और धुंधले भविष्य में भी झाँक आता है। मेरे मधुर भावों और कोमल कल्पनाओ को कुछ क्षण के लिये सप्राण करके इस जीवन मे रस का संचार कर देता है। मुझे लिएदिए तुम तक पहुँच जाता है। बहुधा मेरी स्मृति के अचल से ढँकी तुम्हारी दिवंगता मा को न जाने किस अदृश्य प्रदेश से ढूँढ़ लाकर सामने खड़ा कर देता है। अपने अपूर्व पंखों पर बिठाकर मुझे न जाने कहाँ कहाँ तक घुमा लाता है। उस क्षण में भला कुत्सित लोहे के जँगले और जड़वत् जीवन का मान कहाँ रह सकता है? पर जहाँ वह समस्त जगत् को छान डालता है वही कभी कभी अंतर्मुख होकर मेरे अंतस्तल में प्रवेश कर जाता है। फिर तो उसका तमाशा देखते ही बनता है।

उस समय मेरे लिये न केवल जेल और न जँगले तथा जीवन का अस्तित्व लुप्त हुआ सा प्रतीत होता है बल्कि समस्त जगत् भी जैसे अपनी सत्ता खो बैठता है। वह भीतर मथनी लेकर प्रचंड प्रमंथन करता है और जिस प्रकार देव तथा दैत्यों ने क्षीरसागर को मथकर अनेक परस्परविरोधी गुणो के रत्न ढूँढ़ निकाले थे वैसे ही वह भी मेरे तल प्रदेश से अनमोल संपदा की ढेरी लाकर मेरे सामने बिखेर देता है। मै जानता हूँ कि मेरी यह संपत्ति बिल्कुल निजी है। उस पर न किसी दूसरे का अधिकार है, न कोई उसका उपयोग कर सकता है और न किसी को उसकी चिता हो सकती है। मेरे सिवा किसी दूसरे की दृष्टि में न उसका कोई मूल्य हो सकता है और न किसी को उससे दिलचस्पी ! पर मेरे लिये तो वह सब कुछ है। अपना तहखाना देखकर मैं स्वयं ही स्तब्ध हो जाता हूँ। उसमें देखता हूँ तो पाता हूँ अतृप्ति के जलते अंगारे जो एक प्रकार के विचित्र अभाव की अनुभूति करते हैं। न जाने कैसी शून्यता का आभास सा मिलता है। इच्छाएँ सुलगती दिखाई देती हैं और अपूर्ति के कारण आह का धुंवा उठना स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सब मिलकर अद्भुत अंतर्ज्वाला की सृष्टि करते है। इस दाह की वेदना ही एक

प्रकार के विराग का प्रजनन कर रही है। पर मैं धोखे में नहीं पड़ता। स्पष्ट देखता हूँ कि यह विराग सहज विरक्ति नही है पर अनुरक्ति का ही चरमबिंदु है; अतृप्ति और अभाव के गर्भ से उद्भूत विरक्ति की बिसात ही क्या है ? हृदय यदि इन वासनाओ को ही अपनी संपत्ति बनाए होता तो शायद मनुष्य अपनी इस विभूति को पाते ही जलकर भस्म हो जाता। कदाचित् उस समय उसके लिये अपनी संपत्ति पर प्रसन्न होने का कोई कारण न होता। पर इसके सिवा उसका अंतरतम प्रदेश ऐसे रत्नों की भी खान है जो अपने शीतल अस्तित्व से इस ताप का शमन करते रहते देखता हूँ कि कही सत्य का, शिव का और सौंदर्य का निवास है। ये ही जीवन का मूल्यांकन करने की कसौटी । जीवन इन्ही के आधार पर स्थापित आदर्शो को प्राप्त करने के लिये अभिप्रेत । अतृप्ति और अभाव की वेदना सहन करते हुए भी मनुष्य के हृदय का एक अंश उनके द्वारा आकृष्ट ।

देखता हूँ कि वह मन इन तमाम रहस्यों को सामने लाकर ऐसे खोल देता है जैसे कोई उलझी हुई ग्रंथि खोल दे। मन को अंतर्मुख होने दे, फिर देखे उसकी लीला को। अपने ही स्वरूप का ऐसा स्पष्ट प्रतिबिंब प्रतिचित्रित करने का आयना कदाचित् जगती में दूसरा नसीब नही हो सकता। निःशब्द रजनी के अंधकारदर्शन का अवसर इसी कारण मुझे आकर्षक प्रतीत होता है। अंधकार के इस विशेष रूप और गुण का आभास यहाँ से बाहर पहले कभी नही मिला था। अब तक तो यही समझता था कि प्रकाश के अभाव का नाम ही अंधकार है। पर अब ऐसा लगता है मानो अंधकार का अपना स्वतंत्र रूप है। हृदय स्पष्ट ही उसके भार का अनुभव करता है। उसे देखते देखते ऐसा मालूम होने लगता है कि उसका एक प्रकार का बोझ मन पर पड़ रहा है। बोझ ही नही बल्कि वह अपने रोब अपने दबदबे और अपनी महत्ता का अनुभव करने लगता है। मन निश्चल और एकाग्र हो जाता है, व्यक्ति अपना अस्तित्व खोकर उसी मे लय होता दिखाई देता है। अनंत जलनिधि को देखकर अथवा सनातन हिम से ढँकी उत्तुंग गिरिशिखा को देखकर हृदय पर उनकी महत्ता का जो अद्भुत प्रभाव होता है कुछ वैसा ही अनुभव रात्रि के इस गभीर अंधकार का दर्शन करने पर होता है।

बस इसी प्रकार जीवन के क्षण बीतते चले जा रहे है। कहाँ जा रहे है पता नही, पर मै काल की हत्या करता जा रहा हूँ। इसी समय धीरे धीरे मंद समीर बह चला है। भोर होने के पूर्व अंधकार कुछ और भी प्रगाढ़ हो गया है। पवन का वह डोलना अजब सुहावना लगता है। सामने के वृक्षो की पत्तियाँ धीरे धीरे हिलने लगी हैं। ऐसा मालूम हो रहा है मानो स्वयं रजनी दबे पाँव किसी को ढूँढने के लिये निकल पड़ी हो। इस प्रकार बैठे घंटों बीत गए, एकाएक बैठक की टिमटिमाती हुई लालटेन की ओर ध्यान गया। सोचा उसका कुछ उपयोग करूँ और जो विचार लहरियाँ उठती और विलीन होती रही है उन्हे तुम्हारे लिये लिख डालूँ। इसे समाप्त करते करते प्राची में उषा की अरुणाभा उदय होती दिखाई दी। जगत् में जीवन जगता नजर आ रहा है। फलतः रात भर श्रम करती हुई लेखनी को अब विश्राम करने देता हूँ।

तुम्हारा
बाबू

# ८

नैनी सेंट्रल जेल
ता०......... ... ..

प्रिय लालजी !

आज जेल में होली का उत्सव मनाया जा रहा है। मेरे कानों में अभी अभी मंद किंतु उल्लासभरी स्वर लहरी टकराई है जो कहीं पास के बैरक से प्रवाहित हो रही है। इन कैदियों के जीवन में आनंद, सुख और संतोष के लिये स्थान कहाँ है ? जो पशुओं की तरह पीसे जाते हैं, जो समाज से उपेक्षित हैं, जिनके लिये जगत् में कहीं संमानपूर्वक खड़ा होने का स्थान नहीं, जिनका भविष्य अंधकार में है और जिनमें से बहुतों के जीवन के अनेक वर्ष यहीं समाधिस्थ हो गए और, जिनकी सूखी हुई हड्डियाँ और चिचुके चाम भी संभवत: यहीं गलपच जायँगे, उनके लिये कहाँ है बसंत और कहाँ है सावन का मेघगर्जन ? यहाँ ऐसे प्राणी है जिनकी सारी जवानी इसी में कट गयी, बुढ़ापा यहीं आ गया और अब मौत भी संभवत: यही आकर उन्हें बंधनमुक्त करेगी। ऐसे लोगों की संख्या भी बहुत है जिन्हें यह भी पता नहीं कि उनके घर की क्या दशा है, अपने जिन बच्चों को वे छोड़ आए थे वे अब कैसे है। उनके घरवाले भी उन्हें भूल चुके है। वे यदि आज कहीं छूटकर जायँ और अपने सौभाग्य से अपने बेटों से मिलें और अपनी वीवी के सामने खड़े हों तो शायद न बेटा बाप को पहिचानेगा और बीवी अपने मियाँ को। क्या कभी कोई इसकी कल्पना भी कर सकता है कि इनके हृदय में भी रस का संचार होना संभव है ? क्या होली क्या दीवाली किसी में यह सामर्थ्य कहाँ हो सकती है कि इनके हृदय के टूटे हुए तारो को जोड़कर पुन: झंकृत कर दे।

पर लीलामयी की महानटी प्रकृति ने मनुष्य को विचित्र प्राणी बनाया है। देखता हूँ कि मानव में सुख दुख में सामंजस्य स्थापित कर लेने की अद्भुत प्रतिभा होती है। परिस्थिति उपस्थित होने पर किस सरलता के साथ वह अपने को उसके अनुकूल बना लेता है। उसके हृदय में स्वभावत: कितनी कला, कितना संतुलन और कितना धैर्य भरा पड़ा है। कदाचित् मनुष्य में यदि इसकी क्षमता न होती तो वह एक क्षण के लिये भी जीवन धारण करने में समर्थ न होता। मुझे तो ऐसा लगता है कि जगती अनंत दु:ख और वेदना से ही परिपूर्ण है। प्रबल वेगवान् महान् कालनद के स्तर पर बुलबुले के समान अकस्मात् प्रकट हुए इस जीवन के अस्थाई अस्तित्व पर जरा ऊँचे उठकर दृष्टिपात करता हूँ तो सोचने लगता हूँ कि उसके कितने क्षण सुख और शांति में बीते हैं। मैं तो यदि खुर्दबीन भी लेकर खोजने की चेष्टा करता हूँ तो मुझे सुख, आनंद और तृप्ति नाम का पदार्थ कहीं ढूँढ़े भी मिलता दिखाई नहीं देता। छोटे से इस जीवन का अधिकतर भाग वेदना और पीड़ा

में ही डूबा दिखाई देता है। हाँ, सुख के क्षण कभी कभी आ जाते है जो बिजली की भाँति चमककर अंधकाराच्छन्न पथ पर आलोक की आभा फेककर मानो लुप्त हो जाते हैं। वह सुख नश्वर होता है, क्षणिक होता है, पर वे क्षण सत्य होते है जो जीवन में अपनी अमिट स्मृति छोड़ जाते है। यही स्मृति जीवन की शक्ति का स्रोत होता है। यही स्मृति निराशा में आशा, अधकार में प्रकाश और मृत्यु तथा विनाश में जीवन और निर्माण की रेखा बनी रहती है।

मानवस्वभाव की यह विशेषता उसकी सबसे बड़ी विभूति है। उसी के बल पर भूख और यातना से पीड़ित, किसी सुदूर और उपेक्षित गाँव की झोपड़ी में पडा हुआ किसान, जब दिन भर परिश्रम करने के बाद सायकाल अपने बालबच्चों में आता है, और अपने हुक्के की निगाली मुँह में डालकर गुड़गुड़ शब्द करते हुए हृदय की आह धुँए के साथ बाहर निकालता है, तब उसी में उस सुख और तृप्ति का अनुभव करता है जो उसे दूसरे दिन पुनः ठोकर खाने की शक्ति प्रदान करता है। यही विशेषता मनुष्य को जंगल में भी मगल मनाने का उत्साह प्रदान करती है। किसका जीवन है जो दुःखों से आकीर्ण न हो, समाज का कौन सा अंग है जो अतृप्ति और अभाव का अनुभव न करता हो? फिर भी मनुष्य को इसी जीवन और इसी जगत् से इतना मोह होता है! चलते हुए पारे के बिखरे कनों के समान छिटके हुए सुख के क्षणों को बटोर लेने के असंभव प्रयास मे जीवन कितने दुख, कितनी वेदना और कितनी यातनाओं का भार सहन करने के लिये तैयार हो जाता है, यह देखकर क्या आश्चर्य नही होता? पर आश्चर्यमयी तो यह दुनिया है ही!

फलत. कैदियो को होली के उत्साह में मस्त देख रहा हूँ। उन्होने डफली बनाई है, घुँघरू बनाए है और फटे पुराने चिथडो को एकत्रकर उन्हें रँगा है। अपनी बैरकों से बाहर निकलकर वे स्वाँग रच रहे है, फगुआ गा रहे है और कोई कोई घुँघरू पहिनकर नाच रहे है। इन अभागे बदियो का उल्लास और उन्माद दर्शनीय है। स्वतंत्र वायु और निर्मुक्त अनंत आकाश से भी वंचित होकर ये जीवन को कुछ क्षण के लिये मोहक और आकर्षक बनाने में सफल हुए है। आज होली न आई होती तो इन्हें इतना भी नसीब न हुआ होता। त्योहारो की ऐसी उपयोगिता का पहले कभी आभास भी मुझे नहीं मिला था। होली के साथ न जाने कितना इतिहास जुड़ा हुआ है? मैंने कही पढ़ा था कि हजारो वर्ष पूर्व वैदिक युग में आर्य बड़े उत्साह और धूमधाम से बसंतोत्सव मनाया करते थे। इन उत्सवो को 'समन' कहा जाता था जिसका उल्लेख और वर्णन वेदो मे मिलता है। खेल, कूद, नाचरंग, नाटक, घुड़दौड़, रथों की दौड़ आदि तरह तरह के उत्सवो में स्त्री पुरुष सब भाग लेते, दिन दिन, रात रात खेलतमाशे हुआ करते और कई दिनो तक होते रहते। वेदों में इस उत्सव के आकर्षक वर्णन मिलते है। पुरातन आर्यों मे स्त्रियो को बड़ी स्वतंत्रता थी। उस समय युवती कन्या स्वयं अपने पति का वरण कर लेती थी। कहते है, इन उत्सवों में ऐसे स्वयवर बहुत होते थे। लड़के लड़की परस्पर मिलते और उनमे से जो विवाहबंधन मे आबद्ध होना चाहते उनके माता पिता उनकी इच्छा के अनुसार वही कर देते। 'समनोत्सवों' की यही बड़ी भारी उपयोगिता थी। न जाने कितनों के जीवन और हृदय का समिलन करने का पुण्य इस 'समन' को प्राप्त हुआ होगा।

हमारा होलिकोत्सव शायद उस प्राचीन समनोत्सव का ही विकसित रूप है। हजारों वर्षों से होनेवाले इस उत्सव के साथ न जाने कितनों के हृदय का उल्लास, उनकी कामना, उनकी मधुर कल्पना और उनकी भावुकता मिली हुई है। न जाने कितनों के जीवन मे इसने किसी कोमल स्मृति की वह चिनगारी जलाकर छोड़ दी है जो अपनी अखड ज्योति से उसे सतत दीप्त करती रहती है। यमुना के तट पर मनोहर निकुंजों में श्याम ने गोपिकाओं के साथ होली खेली थी। सहस्राब्दियों पूर्व वहाँ जो रसधारा प्रवाहित हुई थी वह आज तक सूखी नही और कदाचित् तब तक न सूखेगी जब तक मनुष्य मनुष्य है। उस चिरंतन रसधार का उद्गम है मनुष्य का हृदय और उसकी अनुभूतियाँ जो आज भी श्याम के होलिकोत्सव की गाथा में अपने ही प्रतिबिंब का दर्शन करता है। होली की यह महत्ता तो मैं समझता था पर आज उसकी जो उपयोगिता दिखाई दी उसकी कल्पना भी पहले कभी नही की। इन आबद्ध प्राणियों को थोड़ी देर के लिये उसने बंधनमुक्त करके अपनी सार्थकता सिद्ध कर दी है। मेरी आँखों के सामने मैदान मे उन्होंने धूम मचा रखी है। मालूम होता है कि वेग से वहती नदी का बाँध जैसे टूट गया हो। उनके जान में न वेदना का राग है और न नृत्य और अभिनय मे उदासीनता की काली छाया। बंधनयुक्त जीवन में कल्पित स्वतंत्रता का यह क्षण क्या उनके लिये सत्य नही है? कौन उसे असत्य कहने का साहस करेगा? फिर कैदियों का झूमड़ घूम घूम कर इस सत्यासत्य-मिश्रित जीवन का उपभोग क्यों न करे?

पर कैदियों के इस प्रदर्शन का दर्शन करने मे मैं अपने को भूल गया। मैंने आज महीनों बाद लेखनी उठाई थी। होली ने प्रातःकाल से ही तुम लोगों की ओर मुझे आकृष्ट कर रखा है। आज तुम लोगों का उत्साह, विनोद और क्रीड़ा अपनी सीमा पार कर जाती थी। सब बच्चे मिलजुल कर जो धूम मचाते थे, जो रंगबाजी और हल्लागुल्ला होता था वह यहाँ बैठे बैठे याद कर रहा हूँ। उस समय तुम लोगों का उत्पात देखकर झुँझलाता था, उलझ पड़ता था और अकसर डॉट भी सुना देता था। आज कही हृदय के कोने मे उसी उत्पात और होहल्ले को देखने और सुनने की टीस सी हो रही है। पर टीस का समाधान करने का उपचार तो मैंने खोज ही निकाला है। अपने कागज के चिथड़े और टूटी हुई कलम उठाई और बैठ गया। महीनों से कुछ लिखा नहीं था। दूसरी घटनाएँ मन की धारा को दूसरी ओर खीच ले गई थीं। एक दिन बैठे बैठे सुनाई पड़ा कि गाँधी जी ने इक्कीस दिन का उपवास आरंभ कर दिया है। समाचार क्या था मानो अकस्मात वज्रपात हुआ था। सैकड़ों की संख्या में बंद राजबंदी ऐसे स्तब्ध हो गए मानो उन्हें काठ मार गया हो। फिर तो १० फरवरी से ६ मार्च तक का समय ऐसे कटा कि उसका वर्णन करना कठिन है। भयावनी आशंका और भीषण विक्षोभ के दिन थे। हर क्षण यही भय रहता था कि कही अशुभ समाचार सुनने को न मिल जाय। मन की गति को क्या कहूँ? एक ओर समाचार सुनने में त्रास होता था, इच्छा होती थी कि कोई भी संवाद न आवे तभी अच्छा और दूसरी ओर प्रतिक्षण यही कामना रहती थी कि कुछ समाचार मिले। अद्भुत अंतर्द्वंद्व था। विचित्र खींचातानी और कशमकश थी।

ब्रिटेन की साम्राज्यवादिनी सरकार की निष्ठुरता हृदय में आग लगाए हुए

थी। अपनी असह्यावस्था झुँझलाहट पैदा कर रही थी और इस महान् देश के करोड़ो नर नारियों की नपुंसकता लज्जा का उद्रेक कर रही थी। हम लोग सोचते कि गाँधीजी विकट सकट मे फँस गये। वे उन लोगों में है जो अपनी प्रतिज्ञा से डिगना नही जानते चाहे शरीर के टुकड़े टुकड़े क्यो न उड़ जायें। उनमें विदेहत्व का आदर्श सजीव रूप में मूर्तमान हो चुका है। आदर्श और सत्य के लिये उस व्यक्ति की दृष्टि मे न जीवन का कोई मूल्य है और न जगत् का! पर दूसरी ओर स्वार्थ में अंधे हुए कठोर हृदय साम्राज्यवादियो की सत्ता देखी जिनमे नररक्त पान करते करते मनुष्यता नाम के किसी पदार्थ की छाया भी नही रह गयी है। भय होता, भय नहीं विश्वास था कि यदि कही वह अशिव मुहूर्त आ ही गया जब गाँधी जी की भौतिक देह इस तप के बोझ को सहन करने में असमर्थ होती दिखाई देगी तो उस समय भी वे मानवता की इस विभूति और पृथ्वी के इस अमूल्य रत्न को नष्ट कर देने मे आगा-पीछा न करेंगे। आखिर वे भी तो मनुष्य ही थे जिन्होंने ईसा के तपःपूत शरीर में लोहे की कील ठोककर प्रसन्नता और सतोष प्राप्त किया था। यदि इतिहास उसी की पुनरावृत्ति करे तो उसे कौन रोक सकेगा?

हम अनुभव कर रहे थे कि आज गाँधी नही मर रहा है बल्कि उसके साथ वह आदर्श और वह सत्य मर रहा है जिसका प्रतिनिधित्व वह कर रहा है और जिसका दिव्य संदेश लेकर यह देवदूत अवनि पर अवतीर्ण हुआ है। प्रश्न उठता कि क्या मानव के चरम कल्याण की इच्छा और उसके लिये चेष्टा करना ही कोई जघन्य अपराध है जिसके लिये इतना भयानक दंड मिल रहा है। यदि मानवसमाज को संहार से, विनाश से और पाप से बचाना है तो उसकी समस्त व्यवस्था को अहिंसा के आधार पर स्थापित करने का आयोजन करना ही होगा। लोग कह देते है कि अहिसा मानव प्रवृत्ति के प्रतिकूल है और कभी हिसा का उन्मूलन संभव नही है। वे इतिहास को साक्षी रूप में उद्धृत करते है। पर मैं समझता हूँ कि ऐसे लोग उसी इतिहास को गलत ढंग से देखते है। वे यह नहीं देखते कि विकासपथ का पथिक मानव सदा आरंभिक प्रवृत्तियों से युद्ध करता, उनका संयम और नियंत्रण करता ही आगे बढ़ता चला गया है। उसकी यही साधना संस्कृतियो को जन्म देती रही है। विचार करो तो देखोगे कि मानवता का इतिहास इस परम साधना का ही इतिहास है। सहज प्रवृत्तियों का उन्मूलन मनुष्य नही कर सकता पर उन प्रवृत्तियो को व्यवस्थित करना, उनपर कला का रंग चढ़ाना, उन्हें नियंत्रित करना, उनकी धारा, को अधिक उन्नत पथ की ओर मोड़ना और उसे सुसंयमित करना न केवल उसकी शक्ति में है बल्कि इसी का प्रयास वह सदा से करता रहा है। समाज की रचना इसी प्रयास का परिणाम है। संस्कृतियो का विकास इसी तपस्या का फल है।

फलतः हिंसा और स्वार्थ का उन्मूलन भले ही न हो पर उस दिशा की ओर तो मनुष्य बढता ही जायगा। जैसे हिसा उसकी सहज प्रवृत्ति है वसे ही उसके संयम करने की प्रवृत्ति भी प्रकृति ने सहज ही उसे प्रदान की है। मानव का यह द्वंद्वात्मक स्वरूप ही उसकी विशेषता है। गाँधी ऐसा व्यवित उसी की ओर संकेत करता है। आज उसकी असफलता न केवल भारत के लिये बल्कि समस्त मानव समाज के लिये अभिशाप के सदृश होगी। वह असफलता गाँधी की असफलता नही बल्कि मान-

वता की पुनीत साधना की असफलता होगी। वह होगा उसके विकास पथ का अवरोधन जो उसकी गति को रुद्ध कर देगा। फिर तो गतिहीन मानव न केवल अपने प्रयोजन से भ्रष्ट होगा बल्कि विनाश के मुख में समा जायगा। हम इसी दृष्टि से इस समस्या पर विचार कर रहे थे और निराश हो रहे थे। उन इक्कीस दिनों की अपनी आंतरिक वेदना का क्या वर्णन करें। 'आज गाँधी की हालत खराब है', 'डाक्टर उनके जीवन से निराश हो रहे है' आदि समाचार सुन सुनकर कलेजा फट जाता। सोचता कि यदि गाँधी मरा तो उसके शव पर खडी भारत की पराधीनता उस भयावनी विभीषिका का रूप ग्रहण करेगी जो ब्रिटेन और भारत के भविष्य को सदा के लिये नही तो कम से कम शताब्दियों के लिये अंधकाराच्छन्न कर देगी। पर इस असहाय स्थिति में हम कर ही क्या सकते थे ?

एक विश्वास था गाँधी जी की तपस्या में और दूसरा भरोसा था भगवान का। बहुतो ने व्रत किया, बहुतो ने अपने ढग से अपने भगवान की शरण ली। बहुतो ने आँसुओ की धारा प्रवाहित कर हृदय का दाह मिटाया। सारे राष्ट्र की सामूहिक इच्छाशक्ति ने आखिर उन्हे बचा ही लिया। तीन सप्ताह का वह बोझ समस्त स्नायुतंतुओ को विघटित कर देने का कारण हुआ। फलत न कुछ लिखना चाहता था, न पढना और न सिवाय उन बातो के कुछ सोचना। इस प्रकार आज कई सप्ताह बाद पुन: लिखने की इच्छा हुई। इस होली ने ही उस इच्छा को जन्म दिया। पर जहाँ लिखने की इच्छा हुई वहो पुन. पुराना प्रश्न मन में उठ खड़ा हुआ। मैं बैठे बैठे यहाँ कागज पर कागज रँगता जा रहा हूँ और इन पत्रों का ढेर लगाता जा रहा हूँ पर मन में आता है कि क्या इसका कुछ उपयोग भी है ? क्या कभी ये पत्र यहाँ से बाहर निलकर तुम तक पहुँच भी सकेगे ? यदि पहुँच भी जायँ तो इनसे क्या तुम्हारा कुछ लाभ भी होगा ? इनसे तुम्हारा और कुछ नही तो क्या मनोरंजन भी सभव है ? ये प्रश्न जब उठते है तब मन बैठ जाता है, सोचने लगता हूँ कि व्यर्थ ही क्यों कलम घिसूँ ? इन पत्रों में कोई तरतीब या व्यवस्था तो है नहीं, मेरे एकाकी और जेल के नीरस जीवन में उठनेवाले विचार ही तो पंक्तिबद्ध है। फिर इनसे तुम्हारा लाभ ही क्या होगा ? आशा निराशा, सुख और दुख के अनेक घातप्रतिघात से जीवन बना करता है। किसी पर इन [illegible]यों का कुछ असर होता है और किसी पर कुछ दूसरा। मैं जानता [illegible] कि मेरे जीवन की अनेक घटनाओ ने मुझे किस साँचे में ढाल दिया है। जगत के प्रति मेरे दृष्टिकोण में कुछ उदासीनता और कुछ विरक्ति सी आ गई है। ऐसा ज्ञात होता है कि मैं धीरे धीरे मन से और प्रवृत्ति से कुछ अकेला सा हो गया हूँ। जिनके जीवन का मूल एकाकित्व की यह प्रवृत्ति होती है उनके लिये कुछ विशेष उपादानो की आवश्यकता होती है। मुझे ऐसा लगता है कि वे उपादान यदि उस व्यक्ति को प्राप्त न हों तो उसका जीवन कुछ प्रेरणाहीन हो जाता है। उसे अपना ही जीवन तथा जगत भी कुछ शून्य सा, दिखाई देने लगता है। मेरे संबंध में वे उपादान क्या हैं, यह जानने की न तुम्हें जरूरत है और न मुझे इस संबध में कुछ कहना ही है। मैंने इतनी बातों का उल्लेख भी केवल यह बताने के लिये किया है कि इन पृष्ठो में जो लिखा है उस पर मेरे अंतःकरण की स्थिति और उसके रंग का पुट चढ़ा हुआ है। अपनी ओर देखते हुए,

यहाँ के शांत और एकांत वातावरण में बैठकर, भावों को जब उन्मुक्त बहने देता हूँ तब वे अपने स्वाभाविक मार्ग का अनुगमन करते हैं। जीवन जिस साँचे मे ढल गया है तथा जिन परिस्थितियों, अवस्थाओं और अनुभूतियों का वह परिणाम है उनकी प्रतिच्छाया ही तो भावलोक पर प्रभाव डालती रहती है। फलतः उसी प्रकार के विचार लहराते हैं और सहज ही जब उनकी अभिव्यक्ति होती है तब उसी रूप में प्रकट होते हैं।

इस स्थिति में आज उनका विशेष मूल्य तुम्हारे लिये नही हो सकता, यह अच्छी तरह जानता हूँ। पर उन विचारों में किसी की अनुभूति घुली मिली है। किसी दिन वे तुम्हारी समझ में अवश्य आवेगे यह भी मेरा विश्वास है। यही जब मन मे आता है तब पुनः लिखने की इच्छा होने लगती है और मन मे भाव उठता है कि यह बिलकुल अकारथ और व्यर्थ नही है। फिर मुझे तो संतोष हो जाता है और मेरा समय कट जाता है वह ऊपर से। एक बात और लिख दूँ। मै समझता हूँ कि इन पत्रों को लिखने के लिये मैने तुम्हारा सबोधन अवश्य किया है पर जब अतर मे प्रवेश करके देखता हूँ तब ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव मे पत्र लिख रहा हूँ अपने को ही। कदाचित् मनुष्य जो भी लिखता है सब अपने को ही लिखता है, फिर संबोधन चाहे जिसका करे। अपनी ही भावना, अपने ही विचार, अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति अपने ही लिये करता है, जिन पर उसी के अंतःकरण की छाप लगी रहती है। ऊपर से वह चाहे जिसे अपने संमुख रखकर अपने लिखने का पात्र बनावे पर भीतर अपने अवचेतन मन मे वह स्वयं ही आसीन रहता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि ये पत्र केवल तुम्हारे लिये नही प्रत्युत मेरे लिये भी लिखे गये है और हम दोनों का इससे कुछ प्रयोजन भी सिद्ध हो सकता है।

जीवन मे जो अनुभूतियाँ मुझे हुई है और जिन समस्याओ के चक्र से मुझे पार होना पड़ा है, वैसी अनुभूतियाँ और समस्याएँ तुम्हारे जीवन में भी उपस्थित हो सकती है। उनका जो प्रभाव मेरे ऊपर हुआ है वही प्रभाव तुम्हारे ऊपर भी हो सकता है। जीवन का जो स्वरूप मेरी समझ में अपने अनुभव और प्रेक्षण से भासा है, संभव है, कुछ वैसा ही भास समय आने पर तुम्हें भी हो, पर मेरे कथन का यह तात्पर्य नही कि ऐसा होना अनिवार्य ही है। जगत के अनेक प्राणियों में जीवन विभिन्न है, उनका अलग व्यक्तित्व है और उनकी अलग अलग अनुभूतियाँ होती हैं। यह आवश्यक नही कि सब लोग संसार को एक ही दृष्टिकोण से देखें। मैं तो मानता हूँ जितने मुड हैं उतने ही दृष्टिकोण भी हो सकते है और हो सकती हैं उतनी ही विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ। पर ऐसा होते हुए भी मेरी समझ में यह आता है कि विभिन्नतामय इस दृश्य जग के मूल मे किसी प्रकार की अभिन्न धारा अवश्य प्रवाहित है जो अदृश्य होते हुए भी सबको एक सूत्र मे पिरोए हुए है। इस दशा मे संभव है मेरे भावो मे आज नही तो कभी आगे चलकर तुम अपने ही भावों की प्रतिच्छाया देखो। जीवन में सामने उपस्थित होनेवाली समस्याओं का जो हल मुझे सूझा है, संभव है, उन्हीं से तुम भी अपनी समस्याओं को हल कर सको। संभव है, इस प्रकार ये पंक्तियाँ कभी तुम्हारे लिये भी सहायक सिद्ध हों।

इस प्रकार तुम्हारे संबंध में विचार करते हुए आज मैं तुम्हारे बहुत निकट पहुँच गया हूँ। मेरे मस्तिष्क में विचारों का जंगल सा उठ खड़ा हुआ है। बहुत सी बातें इसी सिलसिले में मन में उठ रही है, उन्हें लिख डालना चाहता हूँ पर देखता हूँ कि पत्र का कलेवर बढ़ गया है। फलत: इसे तो यहीं समाप्त करता हूँ किंतु दूसरे का आरंभ भी तत्काल कर दूँगा। अवश्य ही वह आरंभ कल होगा। आज उन विचारों को लेकर ही शयन करूँगा। विश्राम के बाद समझता हूँ कि विचारों का प्रकटीकरण भी अधिक व्यवस्थित ढंग से हो सकेगा।

तुम्हारा
बाबू

नैनी सेंट्रल जेल
ता०.

प्रिय लालजी !

मैंने वचन दिया था कि दूसरे पत्र का आरंभ तत्काल ही कर दूँगा। फलतः आज पुनः बैठ गया हूँ। कल तुम्हारे संबंध में सोचते सोचते मैं इतना तल्लीन हो गया था कि अपने स्वरूप को भूलकर तुम्हारा ही रूप बन गया था। जब किसी का एकाग्र-चिंतन करने मे मन समर्थ होता है और जब किसी के ध्यान में वह मस्त हो जाता है तब उसका अपना व्यक्तित्व उसे विस्मृत हो जाता है। उस विस्मृति के साथ साथ समस्त जगत का अस्तित्व भी मिटा सा प्रतीत होता है। मन की वह दशा एक विचित्र वस्तु है जिसका अनुभव जीवन में कभी कभी ही होता है। इस सम्यक् ध्यान और चिंतन में ध्यान करनेवाला न केवल अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है बल्कि कभी कभी ध्याता और ध्येय दोनो का भेद मिट जाता है। तादात्म्य अथवा तद्रूपता की वह स्थिति अद्भुत सुख और शांति तथा अनुभूतियों की स्थिति होती है। अवश्य इतने गहरे ध्यान के लिये ध्येय ऐसा होना चाहिए जिसके लिये प्रतिध्याता के हृदय में प्रबल आकर्षण हो। फिर वह ध्येय चाहे कोई व्यक्ति हो अथवा देवता, कला का उत्कृष्ट नमूना या कोई चित्र हो अथवा सुंदर मूर्ति, प्रकृति का कोई मोहक दृश्य हो अथवा हृदयोद्भुत कोई विचार। विचार का नाम सुनकर घबड़ाना नहीं और न उसकी आकर्षकता अथवा मोहकता और शक्ति में संदेह करना। यह सच है कि मनुष्य की दुनियाँ बहुत कुछ उसके भावों और कल्पनाओं की दुनियाँ है। वह अपने विचारों और भावों का ही तो पुतला है। कभी कभी इन्ही विचारों के प्रवाह मे बहते हुए वह उन्ही के ध्यान मे मस्त होकर लय हो जाता है और अपनी अलग अलग सत्ता तक खो बैठता है। यह न समझना कि विचारों के प्रवाह में इतना बल कहाँ हो सकता है कि आदमी उसमे डूब जाय।

गहराई मे उतरकर देखोगे तो पाओगे कि यह जीवन और यह दुनियाँ मनुष्य के लिये बहुत कुछ उसके भावो के खेल पर हो ठहरी है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत और समाजिक संबंधों की रचना करता है, दुःखमूलक और सुखमूलक पदार्थो को चुनता है, उचित और अनुचित का विवेक करता है, सदाचारमूलक नैतिक नियमों और धर्म की कल्पनाओ को जन्म देता है, लोगो द्वारा कही गई अथवा पुराने समय से संस्थापित अनेक बातो मे से कुछ को चुनकर उन्हें अपने विश्वास का रूप देकर प्रश्रय प्रदान करता है, सुंदर और असुंदर मे भेद करता है, सत्य और असत्य में विवेचना की गति पैदा करता है पर इन सबके मूल में, पूर्ण रूप से तो नही पर एक बड़ी सीमातक उसका अपना भाव ही प्रधान होता है जो उसकी आधारशिला की

भाँति स्थित होता है। वह भाव ही तो है जो पत्थर में प्राणप्रतिष्ठा करके उमे देवत्व प्रदान कर देता है। और वह भाव ही है जो किसी के प्रति अपने मन की ममता और किसी के प्रति परायेपन का दुराव पैदा करके जीवन और उसके अनेक कर्तव्यों की सृष्टि किया करता है। फलतः जीवन मे भाव का बड़ा प्रभाव होता है, इसमें संदेह नही। इसी भाव के प्रवाह मे मनुष्य जब बहने लगता है और विचार की तरंगो में लहराने लगता है तब अपने अहं को भूलकर कुछ देर के लिये जैसे दूसरे लोक मे पहुँच जाता है जहाँ वह स्वयं अपने विचारो का ही पूर्वरूप बन जाता है। इसी अर्थ मे मैं कल तुम्हारे विषय मे सोचता सोचता तुम्हारा ही स्वरूप बन गया था।

मै अपने यौवन के पराह्न मे निकलकर थोड़ी देर के लिये उम उमर में जा पहुँचा जिस पर उसके उदय के पूर्व की अरुणाभा का स्निग्ध प्रकाश झलकता दिखाई देता है। जिस स्थिति और अवस्था को बहुत दिन हुए पीछे छोड़कर मैं आगे बढ गया था उसी तुम्हारी उमर मे लहराता हुआ पहुँचा। और मैं प्रसन्न हूँ कि मेरे विचार मुझे घसीटकर वहाँ ले गये, जहाँ पहुँचते ही मेरे सामने जगत् का वह स्वरूप आया जो एक नवयुवक की दृष्टि मे साधारणतः आया करता है। फिर तो मेरी मानसमंजूषा मे सुरक्षित रखे हुए जीवन के वे क्षणकण एक के बाद दूसरे दिखाई देने लगे जो उस समय तरह तरह की समस्याओ का रूप धारण करके मेरे सामने उठा करते थे। जीवन का संक्रातिकाल तरह तरह के प्रश्न, नई नई उमंगो, नई आवश्यकताओ और लालसाओं, नई भावलहरियो को न जाने किस प्रकार जन्म देता है। जगत् के स्वरूप का नया बोध, फिर नई नई घटनाओ और उनकी अभिनव अनुभूतियाँ तथा जीवन पर अंकित होनेवाली अनेक अमिट रेखाओ को, न जाने कब, कहाँ से, किस प्रकार उत्पन्न करके जीवन को आलोडित करता है तथा कभी दुःख और कभी सुख, कभी विराग और कभी अनुराग, कभी क्षोभ और कभी शांति का सृजन करके विचित्र समस्याओं को सामने ला खड़ा करता है। वे तमाम पुरानी बातें सिर उठा उठाकर मेरे सामने उपस्थित होने लगी। सहसा हृदय मे तमाम स्मृतियाँ जाग उठी।

फिर तो विचार आया कि आज तुम्हारे सामने भी वही समय प्रस्तुत है और संभवतः वैसी ही समस्याएँ और प्रश्न, भावनाएँ और विचार लालसाएँ और प्रवृत्तियाँ आ आकर खड़ी होंगी जैसी बहुधा जीवन के इस प्रहर मे खडी हुआ करती है। प्राणी को यौवन के रूप मे प्रकृति ने बड़ी भारी भेट प्रदान की है जिसके लिये जीव उसका सदा ऋणी रहेगा। यौवन प्रदान करके वह प्राणी को मानो नया जीव बना देती है। यह जवानी अपने साथ साथ विचित्र प्रकार की प्रवृत्तियो और परिवर्तनो का बाढ लिए आती है। वर्षाकाल की नदी की भाँति जब वह उमड़कर बह चलती है तो न किसी रुकावट को मानना चाहती है और न सीमा के बंधनो की चिंता करना चाहती है। उसका उफान आते ही जीवजगत् मे फिर चाहे वह मनुष्य हो अथवा पशु, पक्षी हो वा पेड़, पौधा सब विचित्र परिवर्तन के प्रभाव मे प्रभावित होते है। यह परिवर्तन भी चतुर्मुख और सर्वांगीण होता है। शरीर के विभिन्न अंगों मे, स्वभाव में, भावनाओ में, वृत्ति और दृष्टिकोण में, रहनसहन और व्यवहार

में, हृदय और मस्तिष्क मे, अर्थात् जीवन के हर पहलू में रद्दोबदल होता है । प्रकृति मानो नवजीवन प्रदान करके प्राणी का सर्वतोमुख कायापलट कर देती है । फिर इस प्रकार परिवर्तित हुआ प्राणी अपने को, अपने आसपास की दुनियाँ को, नये ढग मे देखने लगता है । उसकी आवश्यकताएँ और कामनाएँ, सभी नया रूप ग्रहण करती है । नई भावलहरियाँ लहराती है और उसे बहा ले चलती है । वेगवती जलधारा की भाँति घहराती हुई, प्रवल वेग से, जो कुछ उसके सामने पड़े उसे अपनी चपेट मे लपेटती हुई अपने मार्ग पर वढती चली जाती है । उसे न अपने बाँध की परवाह होती है और न अपने दुकूल पर उगे घासफूस और वृक्षो की । वह तो मदमस्त, अठखाती और खेलती हुई, अपने करारे को भी काटकर धमाधम फैलती हुई मनमानी गति से दौड़ती ही चली जाती है ।

यह वह समय है जब मनुष्य में उसके व्यक्तित्व का विकास होता है । उसमें अपने मन का बोध जागता है, निर्भयता और खतरा उठाने की प्रवृत्ति पैदा होती है, आदर्शों के लिये कष्ट उठाने और त्याग करने की क्षमता का उदय होता है । युवकहृदय सहज ही भावुक होता है । उसी भावुकता से कला का जन्म होता है । उसी के गर्भ से कोमल कल्पनाओ और मधुर तथा उत्तम भावनाओं की धारा बह निकलती है । वह युवक ही होता है जो ऊँचे और पवित्र सिद्धांतों के नाम पर सर्वस्व की बाजी लगा देता है । देश के नाम पर बलि हो जाने की पुकार युवक को ही आदोलित करती है, प्रेम के नाम पर सुख और राजपद तक को ठोकर मार देने की भावना युवक को ही उत्प्रेरित करती है, और राष्ट्रीय गौरव के लिये अनत महासमुद्रो को आकाश मार्ग से उड़कर लाँघ जाने तथा उत्तुग शैलशिखरो को अपने पादस्पर्श से नत करने की सचेष्टता यौवन में ही जागृत होती है । वही यौवन आज अपने समस्त ऐश्वर्य और विभूति को लिए तुम्हारे सामने खड़ा है और अपनी सारी सपदा तुम्हारी झोली मे उड़ेल देने के लिये उत्सुक है । आज मैं भावों द्वारा उसी तुम्हारी उमर में पहुँचकर उन तमाम अनुभूतियों का अनुभव कर रहा हूँ जो साधारणतः तुम्हें होती होंगी । तुम्हारे सुख और तुम्हारे दुख, तुम्हारी भावना और कल्पना, तुम्हारे विचार और दृष्टिकोण, तुम्हारी कठिनाइयाँ और समस्याएँ क्या होंगी या हो सकती हैं, और उनका स्वरूप क्या होगा यह मुझे रह रहकर झलक उठता है । यदि तुममें अपना कोई व्यक्तित्व होगा तो बहुधा तुम उन व्यक्तियों और विचारों के सघर्ष में आओगे जिनसे तुम परिवेष्ठित रहते हो । दुनियाँ गतिशील है क्योंकि वह अनंत कालप्रवाह में बहती हुई, लुढकती और पलटा खाती हुई अपना स्वरूप बदलती रहती है और इस प्रकार अपने किसी पथ पर बढती चली जाती है । अक्सर मनुष्य के विचार और आदर्श , उसके बंधन और व्यवहार पीछे रह जाते है और जगत् सामूहिक रूप से नया स्वरूप लेकर, नई समस्याओं और आवश्यकताओं तथा प्रश्नों को लिएदिए आगे खड़ा दिखाई देता है । उस नवयुग से प्रभावित नवयुवक कभी कभी अपने को उन व्यक्तियो और विचारों से परिवेष्ठित पाता है जो दुनियाँ की दौड़ में पीछे रह गये है । फलतः वह अपने को उनके विरोध में पाता है । कभी उसके मन में इन बातों के विरुद्ध विद्रोह का भाव उत्पन्न हो जाता है और हृदय का अतर्द्वंद्व बड़े भारी बोझ की भाँति अपने भार से उत्पीड़ित करने लगता है ।

युवक के हृदय में समस्या उत्पन्न हो जाती है। वह ऐसी स्थिति मे क्या करे। यदि युवक में आदर्शवादिता है, यदि उसमे सचाई है, यदि अपने विश्वासो के प्रति आस्था है और यदि उसे अपने व्यक्तित्व का बोध हो गया है, तो वह स्वभावतः विरोध या उस विरोध के परिणामस्वरूप आनेवाली परेशानियो से घबड़ाकर चुप बैठना नही चाहता। पर इसके साथ ही वह प्रस्तुत परिस्थिति से खुली युद्धघोषणा करके अपने मनमाने पथ पर जाने के खतरे की भी उपेक्षा नही कर पाता। अजब सांसत मे उसकी जान फँसती है। युवक की इस गुत्थी मे तरह तरह से और गुत्थियाँ पड़ती चलती है। मुझे जीवन की इन मजिलो से पार होना पड़ा है और उन समस्याओ की स्मृति मन के अचल मे अब भी उज्ज्वल रूप से अंकित है। युवक के सामने उठी समस्या उसे एक ओर परेशान करती है और दूसरी ओर उस परेशानी को बढा देता वृद्धों की गता और असहिष्णुता जो यौवन के अल्हड़पन और सहज स्वच्छंद स्वरूप को समझे बिना उनके मन मे उत्पन्न हो जाती है, बड़े लोग जिन पर यौवन में पदार्पण करने के लिये अग्रसर हुए किशोर के योगक्षेम का भार रहता है, उसके सहज और स्वाभाविक परिवर्तन से अकारण घबरा जाते है। वे यह समझते ही नही कि युवक मे जिस प्रवृत्ति का उदय हो रहा है वह न कोई अस्वाभाविक बात है और न किसी अनर्थ की पूर्वसूचना। वास्तव मे वह युवक की सच्ची हस्ती की ही द्योतक है। जिसे वे दोष समझते है वह दोष नही है बल्कि परिणाम है, यौवन के उन तरंगों का जिससे प्रकृति उनके जीवन को लहराती है।

उनकी समझ में नही आता कि यौवन महाशक्ति है जो जीवन के स्फुरण और विकास का स्रोत है। जिसे वे अनर्थ समझ रहे है वह वास्तव मे सब से बड़ी विभूति है। जीवन में सफल वही होता है जिसमें उत्प्रेरणा हो, आगे बढकर खतरा उठाने की हिम्मत हो, विघ्नबाधाओ का सामना करने का साहस हो। जगत् जीवन की संघर्षभूमि है, जिसमें सफल वही होता है जो वीर योद्धा की भाँति अनेक और विविध घातप्रतिघातों का सामना प्रसन्नता पूर्वक करने की क्षमता रखता है। यौवन प्राणी को इसी संग्राम के योग्य बनाने के लिये आता है। भविष्य की सारी प्रेरणा और क्रियाकलाप की शिक्षा का काल यही है। ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर यदि कोई विकासोन्मुख कली की भाँति उमड़ती हुई युवक की भावना और स्फूर्तिमयी प्रेरणा को मसलकर उसके विकास को कुंठित कर दे तो उसका जीवन निश्चयेन निकम्मा हो जायगा। हाँ, इसे अवश्य स्वीकार करना होगा कि यौवन यदि महाशक्ति है तो उसका सदुपयोग और सन्मार्गगमन जहाँ आशीष होगा वहां यदि उसका दुरुपयोग हुआ अथवा वह कुमार्ग की ओर बढ़ा तो भयावह अभिशाप हो होकर रहेगा। फलतः यह कहा जाता है कि बड़े लोग इस शक्ति को उचित मार्ग पर लगाने के लिये ही असहिष्णु अथवा कठोर बनते है; पर वास्तव मे यह प्रकार अवांछनीय परिणामों का सृजन करता है और जिस लक्ष को लेकर बर्ता जाता है उससे बिल्कुल विपरीत फल प्रदान करता है। युवक जिस मानसिक स्थिति मे रहता है और उसके सामने जो समस्याएँ होती है वह उनका हल खोजना चाहता है। ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर उसे आवश्यकता होती है सहायक की और ऐसे सहायक की जो उसके हृदय को स्पर्श कर सके। सहायक ऐसा हो जो उसकी मानसिक स्थिति को समझे,

उमकी समस्या का अनुभव करे, उसके प्रति सहिष्णुता और सहनशीलता का भाव प्रकट करे तथा उसके हृदय की एक एक गुत्थी को धैर्य के साथ खोलने के लिये तैयार रहे। यवक चाहता है ऐसा आश्रय जहाँ वह विश्वास के साथ अपना हृदयपट खोलकर रख दे, अपनी लालसा और आकांक्षा का स्वरूप प्रकट कर दे। जहाँ से उसे सहायता, सहानुभूति और स्नेह मिल सके।

पर दुर्भाग्य से उसे जो कुछ मिलता है इसके विपरीत ही मिलता है। वह पाता है झिड़कियाँ और कठोर आलोचना तथा फटकार। वह देखता है कि बड़े लोग उस पर नाकभौंह सिकोड़ते हैं, हर क्षण उसके नाम पर रोते हैं और उसे उदारतापूर्वक नालायकी का सर्टीफिकेट देते नहीं अघाते। मैं जानता हूँ कि ग्रहणशील युवकहृदय इस पर रोता है। वह अपने को असहाय पाता है और सारे जगत् को अपने विरोधी के रूप में, शत्रु के रूप में देखने लगता है। ऐसे समय जब उसे सबसे अधिक आवश्यकता होती है स्नेह, सौहार्द और सहायता की, वह उपेक्षा और तिरस्कार तथा ठोकर पाकर विचलित हो जाता है। उसकी समस्याएँ जो उसके परिवर्तित जीवन के साथ साथ उसके सामने आकर उपस्थित रहती है और उलझ जाती हैं। उसके हृदय पर इसका भयावह प्रभाव होता है। यदि युवक स्वभाव से दुर्बल हुआ तो सदा के लिये अपनी प्रेरणा को तिलांजलि देकर आत्मसमर्पण कर देता है। उसके जीवन का प्रसार रुक जाता है, उसकी नैसर्गिक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, स्फुरण और प्रेरणा का अभाव हो जाता है।. वह उस दयनीय पौधे की भाँति हो जाना है जिसे पाला मार दिए होता है। सदा के लिये उसके जीवन में वेदना का एक राग बजना रहता है। सदा भयभीत, त्रस्त और सभी भलीबुरी परिस्थितियों के सामने मस्तक झुकाकर घुटने टेक देना और उसे ही दैव समझ लेना उसका स्वभाव बन जाता है।

पर युवक यदि दूसरी काठी का हुआ, उसका अपना व्यक्तित्व हुआ तो वह परिस्थिति मे पड़कर यौवन के समस्त गुणों को छोड़कर उसकी बुराइयाँ अपना लेता है। वह सबको अपना शत्रु समझने लगता है जिसके फलस्वरूप विघातक असंतोष और क्षोभ उसके जीवनसहचर बन जाते है। फिर तो उसमें उच्छृंखलता और उद्दडता का विकास होने लगता है। किसी से सहायता न पाकर और जिसका स्नेह चाहिए उसके स्नेह से वंचित होकर वह अपने में एक प्रकार के मिथ्यादंभ, अहंकार और दर्प को जन्म देता है जिसके सहारे असंतुष्ट जीवन को बढ़ाने की चेष्टा करता है। उस समय वह जगत् को तृणवत् मानता है, अपने को ही सबसे अधिक बुद्धिमान् समझने लगता है। सभी प्रकार के बंधनों के प्रति विद्रोह अथवा कम से कम उपेक्षा का भाव स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है जो उसे स्वेच्छाचारिता की ओर अग्रसर करता है। यह अवस्था अद्भुत दुश्चक्र की भाँति अभागे युवक को घेर लेती है। एक ओर तो उसमें अपने संबंध में झूठी महत्ता की भावना पैदा कर देती है और दूसरी ओर वह यह समझने लगता है कि सारा जगत् उसका द्रोही है। अपनी ही बुद्धि में उसे ऐसा मूढ विश्वास उत्पन्न होता है कि वह यह समझने लगता है कि उसके सामने सारी दुनियाँ मूर्ख है। इस स्थिति भी अंतिम सीढ़ी तब आ जाती है जब वह यह समझने लगता है कि अब उसके लिये कुछ सीखना,

जानना बाकी नहीं है और वह स्वयं पूरा पंडित हो गया है। फलतः बेचारे युवक का सारा जीवन नष्ट हो जाता है। मस्तिष्क के कपाट इस प्रकार वद हो जाते हैं कि उसका मानसिक और बौद्धिक विकास रुक जाता है और अपने अधूरे तथा कल्पित ज्ञान, ढंग तथा व्यवहार को अपनाकर सदा के लिये जीवन को दुखी बना लेता है।

यह परिणाम होता है उस असहिष्णुता, अदूरदर्शिता और कठोरता का जिसका आश्रय बड़े लोग ग्रहण कर लिया करते है। उनकी नीयत होती है युवक को सुपथगामी बनाने की पर उसकी नैसर्गिक विशेषताओं को न समझकर मार्ग ऐसा पकड़ लिया जाता है जिसका परिणाम विपरीत होता है। मैंने बहुत से युवकों का जीवन इस प्रकार कंटकाकीर्ण होते देखा है। मैंने देखा है वृद्धो में और उनके युवकों में इसी कारण भेद पैदा होते तथा ऐसी गहरी खाई वनते जिसने उन दोनों के हृदय को सदा के लिये दूर कर दिया है। मैने देखा है व्यर्थ की कटुता का प्रादुर्भाव होते जिसका बुरा प्रभाव जीवन पर पड़ा है। मुझे जीवन मे ऐसे समय जब सहायता की आवश्यकता थी, जब किसी सौहार्द और स्नेह की उपयोगिता थी, सौभाग्य से ऐसे गुरुजन मिले जिन्होंने उन उपादानों को भरपूर प्रदान किया। मैं जानता हूँ कि मुझ पर उसका कैसा सुखद और सुशील प्रभाव हुआ है। अपने हृदय को किसी के सामने खोलकर रख देने पर उधर से जो सत्परामर्श, सदुपदेश और सहानुभूति तथा समवेदना मिलती है उसका क्या प्रभाव होता है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। युवकहृदय किस प्रकार उनको कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता है, किस प्रकार उस सहायता के बल पर अनेक खतरों, खाइयों और भँवरों से पार हो जाता है, किस प्रकार उचित पथ से विचलित होने और इधर उधर भटकने के भय से मुक्त होकर वह प्रसन्न होता है, तथा अंत मे हृदय का यह विश्वास कि संसार में ऐसे लोग हैं जो उसके सुखदुःख की चिता रखते है तथा उसकी समस्याओ के प्रति उनके मन में सहानभूति है, किस प्रकार उसके जीवन में रस का सचार कर देता है इसका वर्णन नही, अनुभव किया जा सकता है। ये बातें सामूहिक रूप से उसके जीवन के विकास को प्रभावित करती हैं। आज जब मैंने अपने को तुम्हारी उमर में थोड़ी देर के लिये पाया तो समझ गया कि आज तुम्हें किस चीज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। तुम आज जीवन के उस युग मे पहुँचे हो जिसमें नई नई समस्याएँ सामने आती है। तुम्हारे हृदय मे ऐसी इच्छाओ का उद्रेक होगा जिनका कभी आज से पहले अनुभव भी न किया होगा। लोभ, लालसाएँ नये नये रूप में आवेंगी और प्रबल वेग से अपनी ओर आकर्षित करेंगी।

हृदय के तार विचित्र कारणों से इस विचित्र ढंग से झनझना उठेंगे कि तुम उनकी स्वरलहरी की मोहकता देखकर मुग्ध और विमूढ़ हो जा सकते हो। अक्सर ये बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें किशोर किसी के सामने रख नहीं पाता। उसे मन की बात कहने में संकोच होता है, लज्जा आती है। इसमें बहुत सी ऐसी बातें भी होती हैं जो समाज की प्रचलित और स्वीकृत व्यवस्थाओं तथा परिपाटियों के विपरीत होती है। उन्हें किसी के सामने रखते उसे भय होता है। फलतः वह उनको अपने अंतस्तल के अति गहरे प्रदेश में छिपाना चाहता है। पर छिपाए

वह चाहे जितना वे जीवन में एक समस्या तो उत्पन्न कर ही देती है जिसे हल किए बिना शांति नहीं मिलती और परेशानी बढ़ती जाती है। फिर जैसे जैसे तुम बढ़ोगे वैसे वैसे विचारों में, आदर्शों में सघर्ष होने की सभावना बढती जायगी। बहुत से नये पुराने व्यवहारो और विश्वासों से बिलकुल विपरीत दिशा मे तुम्हारी अवस्था हो सकती है। अपनी, समाज की और जगत् की जो परिस्थिति है उससे बिलकुल दुसरी स्थिति और अवस्था तुम्हारी कल्पना पर प्रभाव डाल सकती है। जीवन मे पद पद पर उचित और अनुचित, सत्य तथा असत्य, नैतिक तथा अनैतिक की विवेचना का अवसर उपस्थित होता रहता है। यदि तुम विवेकशील हो, विचारशील हो, मनुष्य होने के नाते अपनी मनुष्यता और उसके उत्तर-दायित्व का ज्ञान रखते हो तो बात बात में कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करना पड़ेगा। जिस कुल मे पैदा हुए हो, जिस ममाज मे जन्म ग्रहण किया है, जिस देश की संतान हो, और सवसे बढ़कर जिस मनुष्य जाति के एक सदस्य होने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है, उन सबकी परंपरा, सस्कार, इतिहास और संमान के अनुकल जीवन को ढालने और यापन करने की चेष्टा करनी पड़ेगी। यह सारा महाप्रयास विभिन्न प्रकार की समस्याओं और प्रश्नो को उपस्थित करता रहता है। आज के युवक के जीवन पर उत्तरदायित्व का जितना बोझ लद गया है उतना शायद मानव समाज के इतिहास के किसी युग के युवक पर नहीं था। आज के युवक का सौभाग्य है कि वह उस समय धरातल पर अवतीर्ण हुआ है जब मानवजाति विकास की अति ऊँची और गौरवपूर्ण मंजिल पर पहुँच चुकी है। इसी लिये उस पर उत्तरदायित्व भी महान है।

ये तमाम समस्याएँ हैं तुम्हारे सामने। जगत् के बड़े से बड़े प्रश्न से लेकर छोटे से छोटे प्रश्न तक से व्यक्ति के जीवन का अटूट संबंध जुड़ गया है। ऐसे समय तुम्हारी ओर मैं सहज ही आकर्षित हो जाता हूँ। मेरा हृदय तुम्हारी सहायता करने के लिये, तुम्हारी सेवा करने के लिये अपने स्वाभाविक स्नेह का सागर लेकर तुम्हारी ओर टूटा पड़ता है। तुम्हारे सुख की, उन्नति की, विकास की इच्छा मुझसे अधिक और किसे हो सकती है? मेरे जीवन की एकमात्र कामना यही हो सकती है तुम सुखी हो और जीवनसंग्राम में सफलता प्राप्त करो। आज मेरी एकमात्र भेंट तुम्हारे लिये है मेरी सहायता और मित्रता। मै चाहता हूँ कि तुम्हारा विश्वास प्राप्त करके, जहाँ तक मेरी बुद्धि, शक्ति और अनुभव मुझे ले जा सके, तुम्हारी सहायता करूँ। यह समय है जब तुम सहायक की अपेक्षा करोगे। मै चाहता हूँ कि उस समय बिना किसी संकोच के, भय या लज्जा के तुम मुझसे सहायता की माँग करना। किसी भी प्रकार के संकोच को मन में स्थान देने की आवश्यकता नहीं है। जिन बातों को मुझसे कहने मे तुम्हे लज्जा का अनुभव हो सकता है, अथवा जिन समस्याओं और प्रवृत्तियो से उत्पन्न प्रश्न को सामने लाने मे तुम्हे संकोच हो सकता है, विश्वास करो, मै उन सब परिस्थितियो से गुजर चुका हूँ। अधिकतर लोग वैसी स्थिति पार किए होते हैं क्योंकि जवानी सबकी आती है और कदाचित् बहुत अश मे समान प्रवृत्तियो और अनुभूतियो को लिए आती है। फिर कोई कारण नहीं है कि तुम

मुझसे संकोच करो। मुझसे जहाँ तक हो सकेगा तुम्हारी सहायता करूँगा और तुम्हें जटिलता से पार होने में मेरे अनुभव से मदद मिलेगी। मैं समझता हूँ कि तुम्हारे लिये इसकी आवश्यकता एक और कारण से भी है। तुम्हारी माँ इस संसार में नहीं रही। यदि माँ होती है तो बालक हो या युवक, उसकी गोद में अपना माथा रखकर अपनी बहुत सी कठिनाइयाँ और दुःख, मातृहृदय से प्रवाहित होनेवाली अविरल प्रेमधारा में बिना प्रयास ही बहा देने में समर्थ होता है। उस अभाव की पूर्ति तो भला मैं क्या करूँगा फिर भी तुम मुझमें ऐसा सहायक और मित्र पाओगे जो स्नेह, आदर और उदारता तथा सहानभूति के साथ तुम्हारी सहायता करने में परम सुख, संतोष और शांति का अनुभव करेगा।

यह न समझना कि मैं तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ या देना चाहता हूँ। मैंने अपने जीवन की समीक्षा करते हुए किसी नवयुवक के जीवन की समस्या और आवश्यकता का जो अनुभव किया है उसी की ओर सकेत किया है और संभव है आगे भी करूँ। तुम उसी दृष्टि से मेरी बातो को लेना। यही समझना कि कोई मित्र तुमसे बात कर रहा है। अब आज इस पत्र को यही समाप्त करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम भी इन बातों पर विचार करो और देखो कि मेरी बातो में तुम्हारे हृदय और तुम्हारी आवश्यकताओ का प्रतिबिब पड़ रहा है अथवा नही। यदि मै कभी यह अनुभव कर सका कि मेरा जीवन तुम्हारे किसी काम आया तो मुझे इतने से ही संतोष की प्राप्ति होगी।

तुम्हारा
बाबू

# ४०

नैनी सेंट्रल जेल
ता०.

प्रिय लालजी !

यौवन का आयुष्काल अत्यंत कम होता है। उसके चले जाने पर चली जाती है उसकी मादकता और मोहकता। कुछ लोग तो ऐसे भाग्यवान् होते हैं जो स्वभाव से ही युवक होते है। ऐसे लोगों की आशा और स्फूर्ति का क्या कहना है? उनका यौवन समाप्त हो जाता है, उसके साथ समाप्त हो जाता है रूप, फिर भी युग के संमुख वे पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। वे अपने अतीत ऐश्वर्य के चिह्नस्वरूप शेष जीवन को उसी प्रकार रँग चुनकर सजाए रखने की चेष्टा किया करते हैं जिस प्रकार कोई उद्ध्वस्त अट्टालिका के खडहर को सजाकर सतोष और सांत्वना प्राप्त करने का प्रयत्न करे। वे आशा करते हैं कि कदाचित् विभूति-का यह भग्न स्तूप अब भी उनकी लालसा की परितृप्ति कर सकेगा और उनके जीवन को रसमय बना देगा। ऐसे लोगो को और कुछ लाभ चाहे न हो पर स्वपूजा के कारण उनके जीवन में कुछ रग कुछ आकर्षण और कुछ आशा बनी रहती है। पर मैं प्रकृत्या उन लोगों मे हूँ जो स्वर्गवास की अवधि समाप्त होते देखकर यह अनुभव करते है और देखते हैं कि वह अवधि सचमुच समाप्त हो रही है। ऐसे लोगो के पास फिर बच रहती है केवल अतीत की मधुर स्मृति जो कभी वेदना और व्यथा का राग भी अलाप देती है। जीवन में स्थायित्व न आनद को प्राप्त है न वेदना को। प्रकृति ने इनकी रचना सबके लिये समान रूप से की है अपने किसी निराले नियम के अनुकल आते और जाते रहते है। पर आनेजानेवाले ये यात्री नश्वर होते हुए भी जीवन में अपने आने के अविनश्वर क्षण छोड़ जाते है जिनका संचय करके ही जीवन जीवन बना होता है।

मैं अपने उसी संचित रत्न की पोटली आज अपने सामने खोलकर उन्हें बिखेरे हुए हूँ। मैं देख रहा हूँ कि मेरी इस पोटली में क्षोभ की, दु:ख की, नैराश्य और अभाव की, अतृप्ति और लालसा की वज्र सदृश कठोर घड़ियों की उलझी हुई ग्रंथि के साथ सुख और स्नेह के, संयोग और सतोष के, परितृप्ति तथा पूर्णता के क्षणस्थायी मुहूर्त आबदार मोती की लड़ियों की भाँति गुथे हुए हैं। पर मैंने आज अपने गड़े हुए धन को खोदकर इसलिये नहीं निकाला है कि अपने विक्षोभ, अपने परिताप तथा अपनी निराशा पर नया रंग चढ़ाकर और उसे नवीन बनाकर संसार के सामने ला रखूँ। मैंने इसलिये उन्हें नहीं खोज निकाला कि तुम्हारे स्वतंत्र, उन्मुक्त तथा शरद् की सरिता के स्वच्छ सलिल की भाँति निर्मल जीवन में उन्हें घोलकर उसे गंदा करदूँ। जो लोग अपने दु:ख की धारा को अंतरतम प्रदेश से निकालकर बाहर करते हैं और उसे बहाकर संसार को परितप्त करने की चेष्टा करते हैं वे

वस्तुतः कायर होते हैं। हाय हाय करने से न तो अपना काम होता है और न होता है कोई लाभ। हाँ, यदि सुखदुःख को पीकर उसे अपने में ही लय हो जाने दे तो मानव के सामने जीवन का वह तत्त्व झलक उठता है जिसकी प्रत्याभा प्रकट करके न केवल अपने लिये बल्कि संभवतः दूसरे के लिये भी जीवनमार्ग पर रोशनी डाली जा सकती है।

तुम अभी यौवन में पदार्पण करने जा रहे हो और मैं तुम्हारी अवस्था से लेकर आज तक ये जीवन के बहुमूल्य २०, २२ वर्ष और काट चुका हूँ। उलटकर बीते जीवन की ओर दृष्टिपात करता हूँ तो उन अनेक उलझनों, दुश्चक्रों और समस्या-रूपी भँवरों और आवर्तों को देखता हूँ जिन्हें पार करके आज इस मंजिल पर पहुँचा हूँ। आज उनकी ओर संकेत करना चाहता हूँ इसलिये कि अपने पथ पर चलते हुए तुम्हें उससे यदि कुछ सहायता मिल सकती हो तो मिल जाय। यौवन की सबसे प्रबल, सबसे बहुमूल्य और सबसे प्रभावकर देन होती है प्राणी में उसके व्यक्तित्व का उदय। अपने स्वरूप का, अपने अस्तित्व का बोध जीवन के प्रारंभ से ही होता है, पर इस युग में वह बोध जिस नये रंग और अनुभूति को लेकर आता है वह इतना प्रखर और अभिनव होता है कि उसका प्रभाव सारे आगत जीवन को ढालता रहता है। नर हो अथवा नारी, यौवन का उसका उद्बोध, व्यक्तित्व का अपना ज्ञान और उस ज्ञान की उसके मानसिक तथा भौतिक जीवन पर प्रतिक्रिया देखने ही लायक होती है। युवक की आँखों में वह रंग होता है जिससे सारी दुनिया उसके लिये उसी रंग में रँगी दिखाई देती है। इस अस्थिपिजर में लोकजीवन का कितना स्पंदन, कितनी हलचल, कितना आकर्षक सौंदर्य फूट पड़ता है। शरीरावयवों में मादकता, हृदय मे न जाने कितनी उमंगें, मानसधारा मे भाव लहरियाँ जीवन को आमूल ओतप्रोत करके प्रचंड आलोडन उत्पन्न करती है।

यह प्रबल प्रमंथन और तज्जन्य उत्प्रेरणाएँ जीवन की अनेक प्रवृत्तियों को जगा देती हैं। ये प्रवृत्तियाँ कदाचित् अब तक किसी कोने में सुषुप्त पड़ी रहती हैं अथवा अमूर्त रूप में कही जीवन के किसी तत्त्व में लय हुई रहती है। पर यौवन आता है मथनी लेकर मथने, जिसके फलस्वरूप अवहन का उद्भव होता है। प्रवृत्तियों में लहराता हुआ युवक विचित्र प्रकार की आवश्यकताओं का अनुभव करता है। वह न जाने क्या क्या खोजता है, न जाने किन किन का अभाव उसे खटकता है और न जाने जीवन मे उसके कितनी गुत्थियाँ पैदा होती जाती है। जीवन के इस संधिकाल की चपेट में पड़े युवक को स्वयं यह नही ज्ञात होता कि यह मामला क्या है? बहुधा वह परेशान होता है, विकल होता है और हक्काबक्का सा हुआ दिखाई देता है। जिनका बचपन समाप्त हो रहा है और जिनके जीवन में यौवन की भाषा झलकने लगी है ऐसे किशोरों को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो बहुधा उनमें एक विशेषता दृष्टिगोचर होती है। कोई कोई हतबुद्धि से, निश्चेष्ट से और अकसर भूले भूले से दिखाई देते है। मैने यौवन में पदार्पण करती लड़कियों को भी इस स्थिति में पड़ते देखा है। उनके मुख से, व्यवहार से और रंगढंग से ऐसा आभास मिलता है मानो उनका मन कही और है। विस्मृत सी, विमूढ़ सी और मुख पर एक प्रकार के विराग की झलक सी दिखाई देती है। जो लोग बच्चे के

उमड़ते हुए जीवन के स्वरूप और रहस्य को नही समझते वे उनमें इन उपसर्गों को देखकर क्षुब्ध होते है। समझा जाने लगता है कि यह कोई भारी विकार है जिसका शिकार बालक बालक हो रहा है। मैंने देखा है बड़े लोगो को बच्चों की इस स्थिति पर क्रोध करते, उसे खोटी खरी सुनाते। अनमना हुआ बालक जिस समय अधिक से अधिक सहानुभूति और सहायता का पात्र होता है उस समय चारो ओर से फटकार पाकर गहरी विकलता और परेशानी मे डूबने लगता है। डाट सुनानेवाले यह नही समझते कि उसकी यह स्थिति परिणाम है कुछ नैसर्गिक कारणों का जिसका उपचार अत्यंत अपेक्षित है।

मेरी स्मृति मुझे आज भी धोखा नही दे रही है। मैं जानता हूँ कि बालक के हृदय में किस प्रकार धीरे धीरे उसके अनजान में तूफान एकत्र होता रहता है जिसे वह स्वयं समझ नही पाता। मैं आज उसी स्थिति की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। जिस विषय को मैं स्पर्श करने जा रहा हूँ वह न केवल जटिल है बल्कि नाजुक भी है जिसकी चर्चा करना सरल काम नही। तुम्हारे लिये वे विषय आज अभिनव है, जीवन में अब तक उनकी कोई स्पष्ट अनुभूति न हुई होगी। आज भी उनका ज्ञान तो दूर रहा कदाचित् उनकी धुँधली सी कल्पना भी तुमने न की होगी। ऐसे विषय का ज्ञान बच्चो को कराना अति दुष्कर कार्य है। इस समस्या की विवेचना से जहाँ तुम्हारा लाभ हो सकता है वही यदि उसका ढंग गलत हो अथवा तुम्हारे हृदयमे वह उलटी और अनुचित उत्सुकता उत्पन्न कर दे तो उससे हानि भी हो सकती है। मै इस आशंका से सशंक हूँ; फलत: समुचित ढंग से सँभालकर ही उसमें हाथ लगाना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि एक सीमा तक इस परम गोप्य विषय का रहस्योद्घाटन उचित समय आने पर उस बालक के सामने हो जाना आवश्यक है जो उस जीवन में प्रवेश करने ही वाला है। जिस समस्या का उसे सामना करना ही है, जिसे सुलझाना उसके लिये नितांत अनिवार्य होगा, और जो उसके वर्तमान तथा भावी जीवन के अंगप्रत्यंग को प्रभावित करने लगी है, उसके सबंध मे उसे अंधकार में छोड़कर यह नीति ग्रहण करना कि वह अकेले ही अपने बल, पौरुष और बुद्धि से उसके पार हो जाने की चेष्टा करे बुद्धिसंमत नहीं प्रतीत होता। कौन कहेगा कि उसे यदि सहारा दिया जा सकता हो तो न देना उचित होगा?

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि तुम्हारे हृदय में मेरे इन वाक्यों ने कौतूहल उत्पन्न कर दिया होगा। पर कौतूहल की, उत्तेजना की ऐसी आवश्यकता नहीं है। साधारण रूप से और शात भाव से ही जीवन के इस पहलू की ओर तुम्हें सदा ध्यान देना होगा। बच्चे की दुनियाँ उसके मातापिता, भाईबहिन तथा कुछ खाने के पदार्थों और कुछ खेलने के खिलौनों तक ही परिमित होती है। पर यौवन आता है व्यक्तित्व का बोध लिए और व्यक्तित्व के जागरण का निश्चित परिणाम होगा यवक में अपने अलग अस्तित्व के ज्ञान का उदय होना। उस स्थिति में उसकी दृष्टि सहज ही विस्तृत होती है, वह स्वयं द्रष्टा बनता है और उससे भिन्न समस्त जगत् उपस्थित होता है दृश्य के रुप मे, जिसका वह दर्शन करता है। प्रकृति की विचित्र लीला के फलस्वरूप प्रकट हुए इस जगत् के रहस्यमय स्वरूप का सबसे रहस्यमय पहलू है नर

और नारी जो संभवत: जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। सृष्टि का लक्ष्य चाहे जो हो, जीवन का ध्येय भी चाहे कुछ हो, पर इतना तो स्पष्ट और सिद्ध है कि समस्त प्राणिजगत् के उद्भव और विकास में जीवन की रंगस्थली पर अभिनय करनेवाले जो प्रमुख तत्व रहे है वह है नर और नारी। पशु हो अथवा पक्षी, कीड़ेमकोड़े हों या वनस्पतियाँ, विशालकाय जंतु हो अथवा मनुष्य, इस जगत् में नर नारी के नश्वर शरीर का ही आश्रय लेकर सृष्टि का अविनश्वर सत्य मूर्तिमान हुआ है। कदाचित् इसीलिये प्रकृति के अटल विधान के अनुसार नर को नारी के प्रति और नारी को नर के प्रति सतत आकर्षित होना पडता है। इसीलिये सभवत: जीवन नैसर्गिक रूप से परस्पर न केवल आकृष्ट है बल्कि एक के विना दूसरा अपूर्ण रहता है, और जो अपूर्ण है वह निरंतर अपने अभाव की पूर्ति के लिये उत्प्रेरित रहता है। इतना प्रवल आकर्षण सहज रूप से जीवन का धर्म बना दिया गया, शायद इसलिये कि सृष्टिक्रिया अविराम गति से प्रवाहित रहे। एक तत्वद्रष्टा दार्शनिक ने जगत् की उत्पत्ति की विवेचना करते हुए पुरुष और प्रकृति की कल्पना की है। उसने इन दो अविनश्वर तत्त्वों के संयोग को ही सृष्टि का मूल कहा है। पुरुष परम चैतन्य होते हुए भी प्रकृति नटी की लीला से विमूढ होता है और प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष के सान्निध्य में आते ही स्वभावत: विक्षुब्ध होकर विमोहक नृत्य करने लगती है। प्रकृति की मोहिनी लीला और पुरुष का उसमे विमुग्ध होना और इस प्रकार दोनो का संयोग ही सृष्टि है। वस्तुत: जीवन में हम सर्वत्र इस सत्य को घटता देखते है।

फलत: नारी के प्रति नर का आकर्षण जीवन का धर्म है जिसकी अनुभूति यौवन में पदार्पण करते ही प्राणी को होने लगती है। इसे ही हम कामप्रवृत्ति कहते हैं जिसे प्राणी गर्भ से ही अपने उदर मे लिए आता है। यह सहजात लालसा जीवनपर्यंत उसके साथ रहती है। आज का मनोविज्ञान इस कामप्रवृत्ति का वैज्ञा-निक विश्लेषण विस्तार से करता है जिस पर प्रकाड शास्त्र और उद्भट साहित्य की रचना हो गयी है। आज उस शास्त्रीय विवेचना की जानकारी तुम्हारे लिये आव-श्यक नही है। वह लाभ के वजाय हानिकर हो सकती है क्योंकि अप्रौढ अवस्था में विविध विद्वानों के बुद्धिविलास और मतमतातरो में पड़कर तुम सीधे और सहज मार्ग से विचलित होकर विचित्र दुश्चक्रो में फँस जा सकते हो। मैं तो तुम्हारे सामने केवल वह स्थिति रख देना चाहता हुँ जो सहज ही इस वयस् मे संमुख आ उपस्थित होती है। चेष्टा करूँगा उस स्थिति से पार होने के लिये मार्ग बना देने की। मेरा सुझाव किसी शास्त्र के आधार पर नहीं होगा किंतु अपनी अनुभूति के अनुसार जिसका साक्षात्कार अपने जीवन के उथलपुथल में मैं करता रहा हूँ। बचपन के वाद एक समय आता है जब कामप्रवृत्ति मानवहृदय में हिलोरें लेने लगती है। उस लहरी की लीला और खेल का वर्णन मैं कैसे करूँ? युवक हृदय ही उसे जान सकता है। उसके प्रभाव से मन में एक अद्भुत तरंग उमड़ती है जिसमें युवक सारी दुनिया को सराबोर कर देता है। उसे चंद्रमा की ज्योत्स्ना में, सुंदर पुष्प में, नदी के कलकल शब्द मे, सावन के मेघाच्छन्न आकाश में, कोयल की कुहू कुहू में, बसंत की सुरभित मंजरी में, प्रात: आनेवाली ऊषा की लालिमा में सहज, आकर्षक

श्रौर मोहक सौंदर्य दिखाई देने लगता है। अंबर, अवनी, गिरिशृंग और विस्तृत उदधि का वक्षस्थल सब नए रूपरंग में अपने को उपस्थित करते है।

कल्पना, कविता और कोमलता की ऐसी धारा हृदय मे वहने लगती है जो उसके जीवन और उसके जगत् में रस का संचार कर देती है। पर यह सब उपसर्ग है किसी मूल प्रेरणा का जो धीरेधीरे उसे अनुप्राणित करती रहती है। वह प्रेरणा उसके हृदय के कोने कोने को परिप्लावित कर देती है। युवक अनजान में चाहने लगता है किसी को 'चाहना', उसे आरंभ मे अपनी इस चाह का ज्ञान नही होता पर निसर्गतः उसकी उत्पत्ति हो गई रहती है। उसे अनुभूति होती है कि वह कुछ 'चाहता' है, जीवन मे उसके कोई 'अभाव' है, किसी प्रकार की शून्यता है, कुछ अतृप्ति है, पर वास्तव मे यह चाह किसके लिये है, किस पदार्थ का अभाव खटक रहा है इसका पता उसे नही लगता। इस स्थिति मे वह अपने को कुछ खोया हुआ सा पाता है। यह मन स्थिति उसके जीवन का कठिन काल होता है। वास्तव मे मन की वह दशा एक चौराहे के समान होती है जहाँ पहुँचकर वह भौचक्का सा हो जाता है। ऐसे समय आवश्यक होता है एक मार्गदर्शक जो सहारा देकर युवक को ठीक पथ से आगे बढ़ा ले जाय। कुछ को सहायक मिल जाते है पर अधिकतर को सहायता स्वय प्रकृति और परिस्थिति कर देती है, जो उनके हृदय में सहज बुद्धि उत्पन्न करके उन्हें अपना उचित पथ स्वयं ढूढ लेने मे समर्थ कर देती है। पर कभी कभी कोई भटक भी जाते है। उन्हें जहाँ जाना है उस पथ को छोड़कर दूसरा मार्ग भी पकड़ लेते है जिसमे भटकते फिरने का खतरा सामने उपस्थित हो जाता है। मै जानता हूँ कि इस मनोदशा मे युवक अपने को न समझ सकने के कारण विचित्र पलटे खाता है और अकसर जीवन को दुःखमय बना लेता है। एक अति साधारण दिशा, जिसकी ओर स्वभाव और प्रवृत्तियाँ उसे प्रेरित कर देती है, वह है जिसमें विपरीत कामप्रेरणा का उदय हो जाता है। यदि इसे और स्पष्ट रूप से समझाने की चेष्टा करूँ तो शायद अनुचित न होगा। युवक अपने प्राकृतिक विकास के अनुसार जब जीवन की एक विशेष मंजिल पर पहुँचता है तब उसके हृदय में कामप्रवृत्ति पैदा होती है। उस प्रवृत्ति का मूर्त रूप होता है उसके हृदय में एक प्रकार की चाह का आविर्भाव, जो वस्तुतः होता है नारी के प्रति आकर्षण, पर जिसे वह आरंभ में समझ नही पाता। बिल्कुल यही प्रवृत्ति नारी के हृदय मे नर के प्रति होती है।

दोनों चाहते है परस्पर संमिलन। एक दूसरे के हृदय से, शरीर से, और आत्मा से भी मिलकर एक हो जाना चाहते है। दोनों अनुभव करते है जीवन मे शून्यता, अधूरापन, एक प्रकार का गहरा अभाव। यही है उसकी परेशानी जिससे निकलने में जीवन के इस युग में कोई उसकी सहायता नहीं करता। परिणाम यह होता है कि कोई कोई अपनी उत्तेजना की स्थिति में, यह न जानते हुए कि वह क्या चाहता है, उसकी समस्या क्या है, और उसे करना क्या चाहिए, भटकने लगता है। विपरीत कामबुद्धि का प्रादुर्भाव भी उसी का एक परिणाम है। विपरीत कामबुद्धि से हमारा तात्पर्य है उन अप्राकृतिक कामचेष्टाओ में संलग्न होना जिसकी भरमार आज के समाज मे दिखाई देती है। युवक चाहने लगता है किसी को 'चाहना' पर किसे चाहना चाहता है यह न जानकर जो सामने आता है उसी पर मँडरा पड़ता है।

सजात प्रेम की बुराई आज व्यापक रूप से फैली हुई है । युवक युवक को उस प्रकार चाहने लगते है, परस्पर ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे नरनारी के प्रति करता है। जीवन में उन घोर अप्राकृतिक कामक्रियाओं का समावेश करते है जिनकी भ्रष्टता और गंदगी की कल्पना करके रोमांच हो जाता है ।

मैं ऐसे युवकों के जीवन के संसर्ग में आया हूँ और उनके इस पतन के नाशकारी स्वरूप तथा प्रभाव को देख चुका हूँ । नर का अपने पौरुष का इतना अपमान वास्तव में घृणित है । युवक युवक को स्त्री की भाँति व्यवहार करे, मियाँ बीबी की तरह वे संयोग और वियोग के सुख और दुख का अभिनय करें, यह वस्तुत मानवता का घोर हनन है जिससे युवक को अपना जीवन बचाना चाहिए । आजकल यूरोप में विशेषकर तथा साधारणतः इस देश मे भी सजात प्रेम का विषय न केवल पुरुषों में बल्कि स्त्रियो मे भी फैल गया है । कामप्रवृत्ति वास्तव मे प्रकृति की देन है जिसका जीवन मे अपना स्थान होना है । उसको एक सीमा स्वयं प्रकृति ने निर्धारित कर दी है । मानवसमाज ने अपने सांस्कृतिक विकास में इस सीमा को अधिकाधिक न केवल पुष्ट करने की चेष्टा की है बल्कि उस बंधन को उत्तरोत्तर अधिक पवित्र, अधिक कलामय और अधिक व्यवस्थित बनाने का यत्न किया है । फिर इससे बढ़कर विडबना और क्या हो सकती है कि मानव कामसंबंध में उस भ्रष्टता और अस्वाभाविकता, तथा कुरुचि का समावेश करे जिसकी झलक पशु जीवन में भी दिखाई नही देती । इस कुकर्म का प्रभाव न केवल समाज के नैतिक जीवन पर पड़ता है पर जो इसमें रत होते है उनका व्यक्तिगत जीवन भी नष्ट हो जाता है । मनुष्य अस्वाभाविकता का आश्रय ग्रहण करके तरह तरह के रोगों का शिकार होता है । युवक तो मानवता की विभूति है जिसमे बल, वीर्य, पौरुष तथा तेजस्विता का निवास होता है । समय आने के पूर्व अस्वाभाविक कामचेष्टा मे प्रवृत्त होकर न जाने कितने युवक बलक्षय और वीर्यक्षय करके अपने को निस्तेज बना लेते है । उनका मानसिक, बौद्धिक तथा शारीरिक ह्रास होता है ।

सूखे गाल, धँसी हुई हड्डियाँ तथा केवल ठठरियोंवाले, तेजहीन और निश्चेष्ट युवकों की संख्या हमारे देश में कम नहीं है । नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट, आध्यात्मिक दृष्टि से अधःपतित तथा पौरुष और उत्प्रेरणा से हीन युवकों से भरा देश क्या कभी उन्नति और उद्धार की आशा कर सकता है ? देश और समाज की सेवा के लायक तो ये रह ही नही जाते पर इनके साथ साथ अपने जीवन के भी अयोग्य हो जाते है । बहुधा इस प्रकार विपरीत कामचेष्टावाले युवक नपुसक हो जाते है जो समय आने पर उस स्वाभाविक कामसुख का उपभोग करने मे असमर्थ होते है जो प्रकृति की सबसे बड़ी विभूति है । यदि नर पुरुषत्वहीन होकर नारी के योग्य न रह जाय तो भला उसका नर होना किस काम का ? खतरा यह भी है कि एक बार इस प्रकार की आदत पड़ जाने के बाद जीवनपर्यंत उससे छुटकारा नही मिलता । मैंने युवको को ही नही, वृद्धों और प्रौढ़ो को भी इस प्रवृत्ति के चक्र मे फँसे देखा है । आज तुम्हारे सामने भी यह खतरा है । तुम्हें सावधान होना है कि कही पथ से भटक न जाओ और जीवन को पतन की ओर न जाने दो । पर यह तो एक प्रकार का खतरा है, एक दुष्प्रवृत्ति है जिसका उदय यौवन में उदीयमान हुई स्वाभाविक कामप्रवृत्ति

को उचित मार्ग की ओर न लगा देने के कारण हो जाता है। ऐसे ही और भी तरह तरह की गुत्थियाँ जीवन में उत्पन्न हो जाती है और विचित्र मनःस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। कोई कोई तो काम की आरंभिक झनझनाहट सहन करने में असमर्थ होकर स्वय अपने ही अंग मे क्रीडा करने लगते हैं। इन पागलों के संबंध मे क्या कहूँ ? अपने भविष्य को नष्ट करने के लिये इससे बड़ा दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता। सचमुच मैं स्वीकार करता हूँ मेरी समझ में आज तक यह न आया कि किस सुख के लिये और क्यों कोई इस कुकर्म का आश्रय लेता है। हाँ, कामोत्तेजना में बुद्धि और विवेक को तिलांजलि देकर पागल हो जाना और उसके शमन के लिये विषपान करने तुल्य इस क्रिया में संलग्न हो जाने के सिवा मुझे और कोई कारण तो प्रतीत नही होता। बहुधा जो इस कुटेव में फँसते है वे आगे चलकर चेष्टा करके भी अपने को इससे निकाल नही पाते। मैने इसके शिकार हुए युवकों को आगे चलकर पश्चाताप करते, रोते और जीवन से निराश होते देखा है। मानसिक विशृंखलता, स्नायविक दौर्बल्य, नपुंसकता आदि बीमारियों से ग्रस्त होते और कभी कभी पागल हो जाते भी देखा है। यह सब परिणाम होता है यौवनारंभ में सहज कामप्रवृत्ति की महत्ता न समझकर दुष्पथ की ओर भटक जाने का, जो आगे चलकर सुधारने की चेष्टा करने पर भी नहीं सुधरता। जो अवसर खो दिया जाता है उसको फिर पाना संभव नही हुआ करता। जीवन में यौवन बार बार नही आता। जो गया वह सदा के लिये हाथ से गया। आज दृढ़ता के साथ तुम्हे इन बातो को हृदयगम कर लेना है।

एक तीसरे प्रकार की ग्रंथि भी युवकमानस में कभी कभी पड़ जाती है जिसका स्वरूप दूसरे प्रकार का होता है। यह ग्रंथि यों तो साधारण होती है पर बहुधा उसका अतिरेक होने लगता है जो युवक के लिये हानिकारक होता है। मैं उसे 'आत्मप्रकाश की प्रवृत्ति' कह सकता हूँ। यदि सीधे शब्दों में कहूँ तो कह सकता हूँ कि कुछ युवको में 'बनने की आदत' पड़ जाती है जो कभी कभी उपहास्य की सीमा तक पहुँच जाती है। व्यक्तित्वबोध के साथ हृदय में उत्पन्न हुई कामप्रवृत्ति उन्हें किसी के प्रति आकर्षित होने और किसी को अपनी ओर आकर्षित करने की सहज प्रेरणा के वशीभूत कर देती है। वे जानते नही हैं कि उनकी काया के भीतर भीतर प्रकृति कौन सा खेल खेल रही है। यदि वे उस खेल का वास्तविक स्वरूप समझ लें तो बहुत कुछ सामजस्य आपसे आप ही जीवन में उत्पन्न हो जाय। पर अज्ञान में पड़ा हुआ युवक तो नई लहरियो से लहराने लगता है और तदनुकल व्यवहार करने लगता है। सहज भाव से उसका अचेतन मन उसे अपने को आकर्षक बनाने को ओर प्रेरित करता है। कदाचित् उसका आधार यह धारणा होती है कि किसी को आकर्षित करने के लिये आकर्षक होना आवश्यक है। अवश्य ही यह धारणा अनजान में, अप्रत्यक्ष रूप में, युवकों के स्वभाव में मिलकर उनपर अपना प्रभाव जमा लेती है। बस, वे बेचारे बनने लगते है। अपने स्वरूप को सँवारने लगते है। एक से एक फैशनेबुल परिधानों तथा वेषभूषा का आश्रय ग्रहण किया जाने लगता है। यह मात्रा दिन दिन बढ़ने लगती है और फिर शौकीनी की सीमा पार कर जाती है। स्वच्छता, सुंदर और आकर्षक ढंग से शरीर को रखना, अपने को चुस्त और चपल

तथा सजीव बनाए रखना तो एक गुण है जो सब में, चाहे वह युवक हो अथवा प्रौढ़, होना आवश्यक है। आज की दुनिया सीधा और सरल होने का अर्थ यह नहीं समझती कि गदे ढग से रहा जाय, चिथड़े लपेटे जायँ तथा मनकियों ना वेश बनाए रखा जाय। वह जमाना लद गया जब इसी मे गुण दिखाई देता था। आज इसे लापरवाही और बोदापन समझा जाता है। फलत: साफ सुथरे रहने की बात से उस प्रवृत्ति को न उलझाना जिसका उल्लेख मैं कर रहा हूँ। इसमे सफाई, स्वच्छता नही प्रत्युत बनावट की मात्रा अधिक होती है और वह धीरे धीरे बढती जाती है। देश विदेश के लेवेडरो, सेटो, पाउडरो के विज्ञापन खोजे जाते है, अधिक से अधिक मूल्य के विदेशी कपड़ो की छानबीन दूकानो मे की जाती है, बढियाँ से बढ़ियाँ चमकदार जूते ढूँढे जाते है और अपने मन के अनुसार साज शृंगार करके युवक जब निकलता है तब उसकी ओर देखो। उसकी चाल में एक प्रकार की बनावट होती है, उसकी चेष्टाओ मे विशेष भाव दिखाई देता है। वह अपने चारो ओर की दुनिया को खोजभरी दृष्टि से देखता नजर आता है। खोज यह होती है कि 'देखें' मेरी ओर सब आकर्षित हो रहे है कि नही।

ऐसे लोग यदि कही ऐसे स्थान पर पहुँच जाते है जहाँ 'महिला मंडल' उपस्थित हो तो फिर उनकी हरकते देखने लायक होती है। सब प्रकार से वे उस स्थान को अपने व्यक्तित्व से ही छा लेने के लिये अथक यत्न करते है। जहाँ वे पहुँचते है वहाँ यदि सिलसिला गपशप और बातचीत का है तो वे सबसे अधिक बड़बड़ करेंगे और सभी विषयों मे चंचुप्रवेश करने की चेष्टा करेंगे। यदि मामला हँसीमजाक का हो तो उनका ठहाका सबसे बढकर लगेगा। यदि कोई उत्सव हो रहा हो तो बिना बुलाए और अनधिकार प्रबध करने के लिये सबसे अधिक उछलकूद वे ही मचाते दृष्टिगोचर होंगे। आगे चलकर यह आदत मनुष्य मे प्रगलभता और अपने प्रति महत्ता की झूठी भावना पैदा कर देती है। उस व्यक्ति के जीवन पर कुरुचिता की ऐसी छाया पड़ती है जो उसे नीचे ही गिराती है। मुझे जीवन में ऐसे युवकों से वास्ता पड़ा है, उनसे बातें करते ही उनके इस स्वभाव का पता लग जाता है। नर और नारी के क्षेत्र मे तो वे यह समझने लगते है कि जगत् की जितनी स्त्रियाँ हैं सब उन्ही पर अनुरक्त है। अपने प्रति इस ढंग का परिणाम आगे चलकर विघातक होता है। एक दिन आता है जब उनकी आँखें खुलती है और तब वे समझ जाते हैं कि वे नारी जाति के मन के हार नही उपहास के पात्र रहे है। वह ज्ञान जीवन में क्षोभ और व्यथा का सृजन कर देता है।

इस प्रकार न जाने कितने टेढेमेढे पथ युवक के सामने प्रस्तुत हो जाते हैं जो उसके जीवन में उलझन पैदा कर देते है। इसके पहले कि मै यह पत्र समाप्त करूँ यौवन की एक और धारा का उल्लेख कर देना चाहता हूँ। मैं कामशास्त्र के सबध में विशेषज्ञ होने का दावा नहीं करता। मैने जो कुछ लिखा है वह वही है जो मेरे प्रेक्षण में, अनुभव मे आया है। समस्याएँ विविध व्यक्तियो के सामने विविध ढंग से उपस्थित होती हैं और उन व्यक्तियों पर उनकी प्रतिक्रियाएँ भी कदाचित् विभिन्न प्रकार से होती होंगी। जीवन मे घटित होनेवाली घटनाओं का जो स्वरूप और प्रभाव मेरे संमुख उपस्थित हुआ है उन्हीं की ओर मैने संकेत किया। केवल इस

आशा से कि तुम्हें शायद मेरे अनुभवों से अपने जीवन के संचालन में कुछ सहायता मिल जाय। मैंने यौवन की एक और धारा का नाम ऊपर लिया है। उसकी चर्चा इसलिये करना चाहता हूँ कि मैं स्वयं उसके प्रवाह में वह चुका हूँ। जहाँ एक विशेष प्रकार की ग्रंथियों का उल्लेख पीछे किया है वहीं यह भी एक ग्रंथि है जिसका स्वरूप कुछ भिन्न होता है। आश्चर्य होता है जब मैं यह सोचता हूँ कि यौवन की कामप्रवृत्ति से ऐसी ग्रंथि भी पैदा हो सकती है। ऊपर की बातों में एक धारा है जो यह दिखाती है कि कामप्रवृत्ति उत्पन्न होने पर कामोपभोग की ओर युवक बढ़ता है और अनजान में ऐसे पथ पर चला जाता है जो उसे न केवल स्वाभाविकता और सुख से विरत कर देता है बल्कि उसके नैतिक अधःपात का भी कारण होता है। पर कभी कभी एक विचित्र मनोवृत्ति युवक में उत्पन्न होती है जो उसे धोखे में डालकर एक और प्रकार की उलझन पैदा कर देती है। यह मनोवृत्ति है विराग की। युवकहृदय में अनायास एक प्रकार की शून्यता की अनुभूति होने लगती है। उस दशा में उसे ऐसा मालूम होने लगता है जैसे दुनियाँ में उसका कोई नहीं है। न कोई उसे पूछता है, न कोई उसका अपना है, न किसी को उसके सुखदुख में दिलचस्पी है और न कहीं जगत् में कोई रस है और न आकर्षण!

यह प्रवृत्ति क्यों और कैसे उत्पन्न होती है इसका कारण बताना कठिन है पर अपने अनुभव पर मैं यह कह सकता हूँ कि इसका स्रोत भी नवोद्भूत वह कामवृत्ति की लहरी है जो उसके अंतस्तल में लहराती रहती है। यह वृत्ति ही तो युवक हृदय में न जाने किसकी कामना उत्पन्न करती है इसी के कारण तो उसे एक अभाव, एक अपूर्णता और अधूरेपन की मीठी वेदना का अनुभव होता रहता है। कोई इस वेदना के परिहार में उपभोग की ओर बढ़ जाता है और किसी में यह वेदना अपने ही रूप में बढ़ती चलती है। जगत् में उसे कुछ चाहिए पर वह कुछ मिला नहीं होता अतः उसकी दृष्टि में सारा सृष्टिप्रपंच जैसे शून्य सा दिखाई देने लगता है। ऐसी प्रतीति होने लगती है मानो उसका कुछ अपना है ही नहीं। जीवन में छूछेपन का, खोखलेपन का यह भास उसमें विराग का सृजन कर देता है। यहीं से नए प्रकार की विपरीत बुद्धि और प्रेरणा उत्पन्न होती है। वह बुद्धि उसे यह समझाती है कि वह विरक्त है, दुनियाँ में कुछ नहीं है कुछ कर्तव्य भी बाकी नहीं है। बहुधा ऐसे युवकों को विरक्ति की, ज्ञान की, संसार छोड़कर साधु हो जाने की बात करते पाओगे। बहुत से पूजापाठ और जप ध्यान में मग्न होते दिखाई देते हैं। विवाह की बात होने पर वे जन्म भर ब्रह्मचारी बने रहने के अपने संकल्प की घोषणा बड़ी दृढ़ता के साथ करते दिखाई देते है। हँसी आती है उस समय जब अप्रौढ़ तथा अव्यवस्थित चित्त की दशा में पड़ा हुआ १६, १८ अथवा २० वर्ष का युवक अपने को बुद्ध के समान विरक्त समझकर अपने वृद्धजनों को भी जगत् के मिथ्यात्व तथा जीवन की नश्वरता का उपदेश देता दिखाई देता है।

ऐसे लोग यदि सँभले नहीं तो आगे चलकर उनकी बड़ी दुर्गति होती है। मुझे ऐसे युवक सन्यासी मिले हैं जिन्होंने किसी समय अपने को विरक्त समझकर घरबार तक छोड़ दिया पर आज वे अतृप्ति और लालसा की आग में जलते हुए

जीवन को अनायास ही दुःखमय बनाए हुए हैं। जो किसी समय आजन्म ब्रह्मचर्य के अवतार बनने का दावा करते थे वे आज भोगलिप्सा की तृप्ति के लिये न जाने कितने उपाय करते है और शांति के समय बैठकर अपने पतन पर ग्लानि की आग मे जला करते है। मैंने इस परिस्थिति की चर्चा इसलिये की कि मैं किसी समय स्वय इसका शिकार हो चुका था। मेरी स्मृति मूर्तमान होकर मेरे सामने खड़ी है। मेरी वही उमर थी जो तुम्हारी है। नया नया यौवन का उन्माद था पर इसी समय गाँधी जी ने अहिसात्मक असहयोग की शखध्वनि से भारत के दिगतो को गुजरित कर दिया था। उनके इस नए मंत्र और नई दीक्षा मे त्याग और तपस्या तथा कष्टसहन का आदर्श सजीव रूप से उपस्थित था। जिस समय का उल्लेख कर रहा हूँ उस समय मैं उपर्युक्त मन.स्थिति में डूबा हुआ था। मुझे याद है कि मेरे हृदय में अनायास ही मीठी मीठी वेदना की ध्वनि झकृत होती रहती थी। मैं समझ न पाता था कि मैं चाहता क्या हूँ। जिधर देखता उधर ही कुछ सूना सा, और कुछ असंतोष सा दिखाई देता। अकसर यह सोचा करता कि दुनियाँ में मेरे लिये न किसी को दिलचस्पी है और न मेरा कोई है। इसी मनोदशा मे था जब गाँधी की पुकार कानों में पड़ी। मेरे मन के अनुकूल मार्ग था और मैं उधर बढ चला। मेरी उस मनोवृत्ति का यह परिणाम तो वाछनीय हुआ कि मैं उस पथ पर चल पडा जिस पर चलकर आज तोष और गौरव का अनुभव करता हूँ। पर उसे छोड़ दो। मन में जो धारा थी उसकी बात देखो। मेरे मन में उस समय क्या क्या नहीं आया। मैं सोचता कि विरक्त हूँ, मुझे सन्यास लेना चाहिये, मैं दुनिया से हटकर कही दूर रहूँगा। यह सोचते सोचते एक प्रकार के अहंकार का उदय हुआ। अपने को दूसरो की अपेक्षा कही अधिक पवित्र, ऊँचा और पहुँचा हुआ समझता। मन में आता कि मेरे सिवा सारा जगत मूर्ख है। जीवन के अनुभव से शून्य, मानव मन की गुत्थियो से अपरिचित, अपरिपक्व बुद्धि बालक दस बीस श्लोक गीता के तथा दो चार वाक्य उपनिषदो के रटकर, अजीर्ण हुए अन्न की भाँति मौके बेमौके जब होता उगल देता और सबको उपदेश ही करने की हिमाकत करता।

आज सोचता हूँ तो अपने ही ऊपर हँसी आती है। सौभाग्य से मुझे ऐसे सहायक मिल गए थे, ऐसे लोगो का सग प्राप्त था जो न केवल मुझ पर प्रभाव रखते थे, बल्कि युवक के मन की दशा का स्वरूप समझते थे। यह सहायता मिली मुझे एक संन्यासी से। उन्होने मुझे इस धारा में बहने दिया पर उसका अतिरेक होने नही दिया। वे जानते थे कि शीघ्र ही मेरे जीवन मे ऐसी घटनाएँ घटेंगी जिनसे सत्य का भास आपसे आप ही हो जायगा। उस समय मैं स्वयं ही समझ जाऊँगा कि यह मेरा विराग वास्तव मे विराग है अथवा घोर प्रवृत्ति की अतृप्ति तथा हृदय में अभाव की अनुभूति का एक पहलू मात्र है। इसी कारण वे कहा करते कि 'तुमने अभी जीवन में पदार्पण किया है, कुछ वर्षो तक उसके ऊँच नीच को देखने के बाद भी यदि यह समझना कि विरक्ति मे ही सुख है तो मुझसे बात करना और फिर मैं मार्ग दिखाऊँगा।' अधिक दिन नही बीता और मेरी आँखे खुल गई। सहसा मेरा स्वरूप, मेरा हृदय, मेरे सामने उपस्थित हो गया। स्पष्ट हो गया कि इस विराग के मूल मे क्या था? वह विराग नहीं था अपितु था हृदय का विक्षोभ, जो अपना आधार खोजता था पर न पाने के कारण इस दिशा में बह चला था। एक दिन

उसके सामने अंधकार आ गया और फिर अपने संपूर्ण से, अपने समस्त व्यक्तित्व से मैंने अनुभव किया कि मुझे यही चाहिए और मैं इसी को खोज रहा था।

जानता हूँ और आज भी अनुभव कर रहा हूँ कि मैं विरक्ति नहीं चाहता था पर चाहता था किसी से प्रेम करना और किसी का प्रेम पाना। हृदय का आदान प्रदान करना मेरी कामना थी। यह सौदा करना मेरे व्यक्तित्व की अभिलाषा थी जिसे मैं समझता न था। यह थी अपूर्ति जो अनजान में वेदना और विराग की ओर लेकर बढ़ गयी थी। मनुष्य के जीवन में ऐसा बहुत सा समय व्यतीत हो जाता है जब वह अपने संबंध में अंधेरे में, धोखे में रहता है। शायद बहुतों का सारा जीवन इसी प्रकार अपने संबंध में धोखे में ही बीत जाता है। वे भाग्यवान् होते हैं जिनकी आँख सहसा किसी दिन खुल जाती है। इस प्रकार की घटनाएँ कम नहीं होती। मेरी दृष्टि में ऐसे युवक आए हैं और जब मैंने उनके जीवन में प्रवेश किया है तब बिलकुल वही बात पाई है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। मुझे कई घटनाएँ विभिन्न व्यक्तियों के जीवन की याद आ रही है। एक घटना तो एक बार के मेरे जेलजीवन की ही है। आज से ग्यारह वर्ष पूर्व मैं सत्याग्रह युद्ध के सिलसिले में अपनी सजा भुगत रहा था। जेल में एक युवक पर मेरी दृष्टि पड़ी। मुख पर वेदना की गहरी छाया थी। जीवन के ढंग तथा रहनसहन में विचित्र विराग था। उस उमर के और लोग जहाँ दिन भर होहल्ला मचाते और ऊधम करते रहते वहाँ उसे मैं वृक्षों के नीचे अद्भुत चिंतनशील बैठा हुआ देखता रहता। अनायास मैं उसकी ओर आकृष्ट हुआ। बातचीत की तो देखी वही विरक्ति की पुट! जीवन और जगत् के मिथ्यात्व की ओर वह संकेत करता और मुझसे उसी के संबंध में विवाद करता। मुझे संदेह हो गया कि हो न हो यौवन की लीला की ही ग्रंथि पड़ गई हो। धीरे धीरे उससे मेरी घनिष्ठता बढ़ी। एक दिन मौका पाकर मैंने उसके हृदय को स्पर्श करने की चेष्टा की। वह युवक जिस स्थिति में था उसका अनुभव मुझे हो चुका था। मैंने अपनी ही कहानी और वही अनुभूति उसके सामने ढंग से रखी। विश्वास करो कि मेरी बातें समाप्त होते होते उस युवक की आँखों से आँसू की धारा बह चली। मेरी बातें उसके अंतस्तल को स्पर्श कर रही थी। उन्होंने उसके हृदयपट को उसके ही सामने खोलकर रख दिया। आज भी वह युवक स्वीकार करता है कि उस घटना ने उसके जीवन को प्रकृत बना दिया। अन्यथा वह भटकता ही रहता।

अब मैं यह पत्र समाप्त करता हूँ। इसका विस्तार काफी बढ़ गया है। मैंने लिखना इसलिये नहीं रोका कि कहीं मेरे विचारों के प्रवाह में रुकावट न आ जाय। सोचा पत्र बढ़ जाता है तो बढ़ जाने दो। पर अब समाप्त करता हूँ क्योंकि प्रश्न का एक पहलू सामने रख दिया है। यौवन में जो समस्या सबसे उग्र रूप में, सबसे प्रभावकर रूप में, सारे जीवन को उसकी समस्त संपूर्णता के साथ ओतप्रोत करती रहती है, उसकी चर्चा कर दी है और उससे स्वभाव में तथा जीवन में जो प्रतिक्रिया कभी कभी उत्पन्न होती है उसकी ओर भी इशारा कर दिया है। और बातें अब फिर लिखूँगा। आज यहीं आराम करो।

तुम्हारा
बाबू

११

नैनी सेंट्रल जेल

ना०

प्रिय लालजी !

पिछले पत्र में मैंने यौवन की प्रभातबेला में हृदय में लहरानेवाले 'काम' की प्रवृत्ति का उल्लेख किया था। कामेच्छा सजात प्रवृत्ति है जिसे अपने साथ लिए हुए प्राणी उत्पन्न होता है। यौवन में उसकी अनुभूति अभिनव रूप से होती है जिसकी प्रतिक्रिया सारे जीवन पर होने लगती है। मन पर उसके प्रभाव पड़ते है पर कभी कभी उस प्रभाव का परिणाम जीवन को विचित्र रास्तों की ओर ले बढ़ता है। जवानी में इस उलटे परिणाम का खतरा होता है जिसकी ओर सकेत कर दिया है। संकेत इसलिये किया है कि तुम उससे सावधान रहो। जिस युग में पदार्पण कर रहे हो उसमे ऐसी परिस्थितियाँ और उनका मन पर प्रभाव पड़ सकता है जो उन्ही खतरनाक रास्तो की ओर ले जाने की चेष्टा करे। इसलिये आवश्यकता है इस काल मे उनसे सावधान रहने की और उनसे अपने को बचाने की। कामप्रवृत्ति यदि जीवन के मूल में ही वर्तमान है और उसे अपने उदर मे लेकर ही प्राणी आता है तो उसका प्राणी के साथ साथ रहना अनिवार्य है। यौवन में यदि प्रकृति की प्रेरणा से वह प्रवृत्ति अपनी शक्ति के साथ सामने उपस्थित होती है तो मनुष्य का उससे प्रभावित होना भी नितांत निश्चित है। प्रश्न कर सकते हो कि उसके खतरे तो आपने बताए पर अंततः उठनेवाली इस समस्या का समुचित हल क्या है ? प्रकृति ने इस प्रवृत्ति की पूर्ति का कौनसा उपाय मानव को प्रदान किया है और वे कौन से पथ हैं जिन पर चलना उचित होगा और जो इस प्रश्न का निबटारा कर सकते हैं ? यह सीधा और सरल प्रश्न है जिसका उत्तर पाने का तुम्हें अधिकार है।

यह प्रश्न देखने में जितना सरल और सीधा है वास्तव में उससे कहीं अधिक गंभीर, जटिल और पेचीदा है। आज इस प्रश्न की समीक्षा में दुनियाँ के बड़े बड़े विचारकों और मनीषियो ने अपनी सूझ, शोधन और मनन की शक्ति लगा रखी है। महान् वैज्ञानिकों और प्रखर दार्शनिकों ने इस प्रश्न को अपने गंभीर अध्ययन और विचार का क्षेत्र बनाया है। ससार के साहित्य में 'कामविज्ञान' का न केवल प्रमुख स्थान है बल्कि साहित्य का जितना बड़ा अंग उसके रूप मे वर्तमान है उतना कदाचित् किसी दूसरे विषय का न होगा। जीवन में संभवतः 'कामसाहित्य' का अध्ययन और विवेचन अन्य सभी विषयों की अपेक्षा कहीं अधिक हो रहा है। सप्रति इस विज्ञान की परिधि इतनी व्यापक और विस्तृत हो गई है कि कुछ लोग जीवन और जगत् की समस्त समस्याओं को उसी के अंदर मानने लगे है। यूरोप के विचारकों में जहाँ इसका अध्ययन वैज्ञानिक ढंग पर कई दशकों से हो रहा है, ऐसे लोगो का एक समूह है जो यहाँ तक मानते है कि 'प्राणिजगत्' की कामप्रवृत्ति ही उसके समस्त

विकास का मूल है। वे कहते हैं कि इसी प्रवृत्ति की अनुप्रेरणा से सारा जीवन और जगत् सचालित है। महती सभ्यताओं का जन्म, महान् साहित्यों का निर्माण, अति ऊँची कला का परिस्फुरण, मानवसमाज और विचार का संग्रंथन तथा उदय और जीवन के रहनसहन, ढंग तथा मनुष्य के स्वभाव और आदतों का निर्माण अर्थात् जगत् का सामूहिक तथा व्यक्तिगत समस्त जीवन मूलतः इसी प्रवृत्ति की उत्प्रेरणा तथा अभिव्यक्ति का परिणाम है। वे तो यहाँ तक कहते है कि जगत् में फैला हुआ विक्षोभ, आज की अशांति और जीवन का दुःख भी इसी कारण है कि इस प्राकृतिक प्रवृत्ति को मानवसमाज ने अपने स्वाभाविक ढंग से प्रवाहित होने नही दिया। इन विद्वानों के मत से माता का वात्सल्य हो चाहे किसी साधक का विराग, निठल्ले बैठे हुए किसी आदमी का अपने लटकते हुए पैर को हिलाना हो अथवा किसी कलाकार का अपनी कला को मूर्त करने में समाधिस्थ हो जाना, सब में उसकी काम प्रवृत्ति ही मूलतः निवास करती है जो तरह तरह की वृत्तियों तथा मानसविकृतियों का सृजन किया करती है।

अवश्य ही ऐसे विचारकों के मत के विरोधी भी अनेक विद्वान् और समूह हैं जो उसी वैज्ञानिक पद्धति का सहारा लेकर उपर्युक्त धारणाओं को भ्रांत समझते हैं। पर मैं तो यहाँ कामशास्त्र के विविध विचारकों के मतों की विवेचना करने नही बैठा हूँ। आज तुम्हे उसकी आवश्यकता भी नही है। जैसे जैसे समझदार होगे और बड़े होगे वैसे वैसे इन प्रश्नों पर स्वय विचार करोगे और शायद उस समय विभिन्न मतो को प्रकट करनेवाले इस संबंध के साहित्य को पढोगे। आज तो तुम न उन्हें समझ सकते हो और न उनसे तुम्हारा लाभ हो सकता है। मैं तो समझता हूँ कि उससे हानि ही अधिक होगी क्योंकि उसमें प्रवेश करना चाहिए उन लोगों को जिन्हे प्रौढ विचार करने की क्षमता प्राप्त हो गई हो और जो न केवल परस्परविरोधी बातों में से सत्य का निर्णय करने की शक्ति रखते हों बल्कि अपने जीवन की अनुभूतियों की कसौटी पर परखकर उनकी सत्यता की जाँच कर सकते हों। इन बातों की चर्चा तो मैंने केवल कामप्रवृत्ति तथा तत्संबंधी अनेक प्रश्नों की गंभीरता और जटिलता की ओर संकेत करने के लिये की है। विचार करके देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक युग मे ही नही बल्कि मानवविकास के अति आरंभिक काल से ही मनुष्य ने इस प्रश्न की महत्ता स्वीकार की है। वह सदा उसके प्रभाव और तज्जन्य समस्याओं का अनुभव करता रहा है। उसने सदा अनुभव किया है कि जीवन पर इस प्राकृतिक प्रवृत्ति का ऐसा गहरा और व्यापक असर है कि मनुष्य उसकी उपेक्षा कर नहीं सकता। यह कहना अनुचित न होगा कि जीवनरथ में काम की प्रवृत्ति वस्तुतः धुरी की भाँति रही है अतः उसने सदा उसकी शक्ति को बाध्य होकर स्वीकार किया है। भले ही हम इसे स्वीकार न करें कि जीवन की सारी उत्प्रेरणा के मूल में वही है पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसका स्थान प्रमुख रहा है और सहस्राब्दियों से मानवसमाज ने, उसके विचारकों और मनीषियों ने, ऋषियों और तत्वद्रष्टाओं ने तद्भूत समस्याओं को हल करने मे अपनी शक्ति लगाई है। समाज का विकास उनकी इस चेष्टा और साधना का ही परिणाम है।

ऐसे गंभीर विषय पर तुम्हें कुछ बताने का यत्न करना सचमुच साहस करना है

पर किया क्या जाय ? उसकी जटिलता और विकटता का एक प्रभाव यह भी है कि जहाँ उसके संबंध में कुछ कहना दुष्कर काम है वहीं ही बिना कहे रहा भी नहीं जा सकता। यदि उन बातों के संसर्ग मे तुम्हें आना है, यदि प्रकृति तुमको उनके संमुख लाकर खड़ा कर देनेवाली है तो फिर यह आवश्यक और अनिवार्य है कि तुम्हें उसके स्वरूप का ज्ञान करा दिया जाय। भला जो प्रश्न वडे वड़े विद्वानों को घपले मे डाल देता है उसके सामने यदि एक अनुभवहीन और अप्रौढ बालक खड़ा कर दिया जाय तो कौन कहेगा कि उसकी सहायता करना उचित नही है ? फलतः मैं आयास करूँगा कुछ बताने का जो किसी शास्त्र की विवेचना न होकर होगा मेरी अनुभूतियों का परिणाम और उन अनुभूतियो की प्रतिक्रिया जो मेरे मानसपटल पर पड़ी है। अब तुम अपने प्रश्न पर जाओ—काम की प्रवृत्ति यदि सहज है तो फिर प्रकृति ने उसकी पूर्ति का भी कुछ न कुछ उपाय निर्धारित किया होगा ? यह उपाय क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर दो शब्दों में यही है कि कामैषणा स्वाभाविक है और उसकी पूर्ति का स्वाभाविक साधन है नरनारी का संमिलन। इसके सिवा दूसरे किसी उपाय से उसका समाधान अप्राकृतिक है, भ्रष्ट है, अनैतिक और विनाशकारी है।

नारी प्रकृति की, कला की अनुपम रचना और सर्वोत्कृष्ट विभूति है। नर और नारी की रचना करके प्रकृति ने दोनों को अलग अलग तत्व बना दिया है। परंतु एक के बिना दूसरा अधूरा है। अपनी पूर्णता की अनुभूति करना जीवन की आकुल चाह होती है जिसे प्रकृति ने स्वभावतः मानवहृदय में उत्पन्न कर रखा है। यही कारण है कि ये दो तत्व परस्पर मिलकर एक हो जाने के लिये सदा मे उत्सुक रहे हैं। स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो नर नारी के पार्थिव शरीर की ओर आकृष्ट होता है। इसी प्रकार नारी नर के भौतिक देह की ओर आकृष्ट होती नजर आती है। साधारण दृष्टि से उन दोनों के भौतिक देह को परस्पर मिलते हम देखते है। इस संमिलन मे कामप्रवृत्ति की तृप्ति होती है। नर को नारी के रूप मे परम सौंदर्य की जो छाया झलकती दिखाई देती है उसका कारण तर्क से सिद्ध नही किया जा सकता। ललना के लहराते केश में और उसकी भृकुटियों मे, उसकी नासिका और उसके कपोल मे, उसके अधरो और ग्रीवा मे, उसके वक्षस्थल और उसकी भुजा में, उसके समस्त अवयवो और अंगप्रत्यंग में नर को सौदर्य, ऐश्वर्य और कला का जो परम रूप विकसित दिखाई देता है वह क्यो दिखाई देता है, इसका उत्तर शास्त्र और तर्क नही दे सकते। नारी की चाल में, उसके हास और मान में, उसके क्रोध और स्नेह में मनुष्य डूबकर जिस तृप्ति और तोष का रसपान करता है उसका कारण क्या है यह बताने की क्षमता मुझमे नही है। जीवन की अनुभूति केवल यह बताती है कि नारी वह महाशक्ति है जिसकी उपेक्षा करना संभव नहीं होता। यौवन का समुद्र जब पूर्ण चंद्र की भाँति प्रकृति के अनंत अंतरिक्ष पर नारी को उदीयमान देखता है तव उसमें वह उफान उठता है जिसकी प्रबल चपेट में सारा जीवन आमूल आंदोलित हो जाता है। नारी का वह अति मनोहर रूप अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है अथवा नर की दृष्टि में आपेक्षिक है यह कहना भी कठिन है। उसका सौदर्य जिस रूप में नर की दृष्टि में भासता है वैसा ही कदाचित् किसी दूसरे को प्रतिभासित न

होता होगा। जो नारी नरहृदय को विक्षुब्ध कर देती है, जो उसके सारे जीवन में छा जाती है, जो उसे चंद्रमा की ज्योत्स्ना मे, मेघ की विद्युल्लता मे, वसंत के सुरभित समीर मे, तथा प्रकृति की समस्त और अपार विभूति मे अपनी ही छाया झलकाती दिखाई देती है, वही नारी अपनी सजाता दूसरी नारी के लिये कदाचित् तत्सम मूल्य नही रखती। निस्संदेह यही प्रतीत होता है कि उसका रूप, उसका सौंदर्य, उसकी मनोहरता का विशेष अस्तित्व नर की दृष्टि में ही है। पर हो चाहे जो; इसमे तनिक भी संदेह नही कि नर को नारी की रूपाभा में जीवन की किसी परम सुखद, कोमल, मधुर तथा अतृप्त की पूर्ति का साधन स्पष्ट दिखाई देता है जिसकी अनुभूति के लिये उसके हृदय मे आवेग का तूफान उठ खड़ा होता है।

यही कारण है कि मानवजीवन में नारी का अद्भुत तथा विशिष्ट स्थान रहा है। पुरुष के लिये वह उत्प्रेरणा और स्फूर्ति का भी कारण रही है। यह न समझना कि नारी केवल उपभोग का साधन मात्र रही है, जिसके द्वारा पुरुष अपनी प्यास बुझाता रहा है। मानवता के इतिहास मे पुरुष के जीवन को अनुप्राणित करने मे कदाचित् नारी से अधिक भाग किसी और तत्व का नहीं है। विश्व के रंगमंच पर ऐसे पात्रों की कमी नहीं रही है और न आज है जिन्होंने विशिष्ट चरित्रों की रचना की है, उच्चादर्शों की स्थापना की है और महान् कार्यों का संपादन किया है। पर ऐसा करने मे उनके पार्श्व मे निवास करती उनकी प्रियतमा का हास, उसकी प्रशंसात्मक दृष्टि, उससे बहनेवाली स्फूर्ति की धारा और उसका अनमोल, अपार प्रेम, उत्प्रेरणा का प्रमुख स्रोत रहा है। उसकी एक एक भ्रूभंगिमा पर कठिनाइयों के महासमुद्र मे कूद पड़ने मे न हिचकनेवाले नायकों की जगत् में कमी नहीं रही है। नारी के वियोग की ज्वाला मे विदग्ध हृदयों से काव्य की जो धारा बही है, उसके स्नेह की अभिलाषा में क्षुब्धहृदय का जो आवेग शब्दों और भावों के रूप मे निर्गत हुआ है वह मानवसमाज के साहित्य का अनमोल और कदाचित् उत्कृष्ट अंग है। उसके विमोहक अंगों और भावभंगिमा में कलाकार को उस परम तथा सत्य सौंदर्य के तलछट का जो सहसा उद्बोध होता रहा है वह जगत् की महती कला की कृति के रूप में मानवता को सुशोभित करता रहा है। मैं जब नारी के महान् व्यक्तित्व का चिंतन करता हूँ तब उसकी अनंत मोहकता से अभिभूत हो जाता हूँ। यही कारण है कि मैंने सदा उसे अपार श्रद्धा और अगाध भक्ति तथा अपरिमित प्रेम की दृष्टि से देखा है। मैं अपने भाव को किस प्रकार प्रकट करूँ। मै आस्तिक हूँ और यह विश्वास करता हूँ कि विश्व के मूल मे कोई अनंत चेतन धारा है जिसकी अभिव्यक्ति ही यह सृष्टि है। मेरा यह आस्तिक भाव जब मुझे उस असीम महाधारा की कल्पना के लिये उत्प्रेरित करता है तब सचमुच मैं उसकी कल्पना उस महिमामयी, महाशक्तिस्वरूपा चिरंतन नारी के रूप मे ही कर पाता हूँ जो दृश्यादृश्य इस भवप्रपंच के अणुपरमाणुओं में पूर्णतः ओतप्रोत है।

फलतः इस नारी तत्व से एक होने के लिये नर आकृष्ट होता है। मानवस्वभाव की यह विशेषता है कि वह जब किसी वस्तु पर विमुग्ध होता है तब उसे पाने का उसका आग्रह भी प्रबल हो उठता है। उस आग्रह में वह अपने वांछनीय पदार्थ की सत्ता से मिलकर एक हो जाना चाहता है। एक हो जाने के इस आग्रह के

मूल में पूर्ण होने की उसकी वह चाह वर्तमान रहती है, जो प्रकृति ने जीवन के साथ साथ प्रदान कर दी है। नारी के बिना वह अपनी अपूर्णता का, अभाव का अनुभव करता रहता है। फलतः उसे पाना और पाकर एक हो जाना उसकी परम आकांक्षा होती है। पर क्या नरनारी के स्थूल पार्थिव संमिलन में उस आकांक्षा की तृप्ति पूर्णरूप से हो जाती है? यह उचित प्रश्न है जिसका उत्तर भी स्पष्ट है। जीवन का अनुभव बताता है कि नर और नारी का क्षणिक भौतिक संमिलन क्षण भर के लिये काम की प्रवृत्ति का भले ही शमन कर दे, पर जीवन की संपूर्ण चाह की परितृप्ति केवल उतने से नहीं होती। फिर भी, क्षणिक परितृप्ति में भी उस परितृप्ति का स्वाद, उसका आभास, अस्थाई अनुभव, प्राप्त हो जाता है, जिसकी खोज जीवन करता रहता है। फलतः मानवजीवन उसे पाने के लिये बड़े वेग और गति के साथ उसकी ओर बढता है। नरनारी के पारस्परिक प्रबलआकर्षण और एक हो जाने की उग्र आकांक्षा के चरम रूप का नाम ही प्रेम है।

इस प्रेम की अनुभूति यौवन में काल पाकर होती है और किसी भी युवक के जीवन में प्रेम की यह समस्या उत्पन्न हो सकती है। जब जीवन इस नए भावोद्रेक का अनुभव करता है तब एक विशेष स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रेम की व्याख्या और उसके स्वरूप का विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। वह एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति है जिसकी अनुभूति ही हो सकती है। यह न समझना कि नारीमात्र की ओर जो आकर्षण स्वभावत उत्पन्न होता है वही प्रेम है। ऐसा आकर्षण तो राह चलते हो सकता है। आतेजाते कहीं भी मनोरमा रमणी के प्रति, उसके यौवन के प्रति हृदय आकर्षित हो जाता है और मनुष्य की दृष्टि उधर चली जाती है। पर यह दृश्य नेत्र के सामने आता है, क्षण भर के लिये मन को आकृष्ट करता है और चला जाता है। जीवन पर उसकी कोई प्रत्यक्ष रेखा भी नहीं रहती। मनुष्य की इंद्रियाँ थोड़ी देर के लिये अपने किसी रस की ओर आकृष्ट हो जाया करती हैं और बहुधा उनकी तृप्ति करके शांत हो जाती है। इंद्रियों की यह वासनातृप्ति प्रेम का पद नहीं प्राप्त कर सकती। कोई गा रहा हो उसके ताल तथा लय की ओर कान चले जायँगे। कोई गंध हो नासिका उसका ग्रहण कर लेगी। पर ये घटनाएँ हो जाती हैं, इंद्रियों का स्वारस्य थोड़ी देर के लिये शमन कर देती हैं और बिना किसी प्रकार का प्रभाव जीवन पर डाले मिट जाती है। इनका घटित होना कुछ यांत्रिक सा होता है। इसी प्रकार नारी के स्वरूप की ओर भी आँख उठ जाती है और अपना काम करके शांत हो जाती है। यह है सहज साधारण आकर्षण, पर इतने को ही प्रेम नहीं कह सकते। प्रेम तो एक प्रकार की मनःस्थिति है जिसमें व्यक्तित्व अपनी संपूर्णता के साथ अभाव का अनुभव करता है, और जो नहीं है उसे पाने के लिये विकल हो जाता है। जो चाहता है उसे पावे और पाकर उसमें तन्मय हो जाय।

इस तन्मयता की उपलब्धि और प्रेमास्पद के साथ तादात्म्य, यही प्रेम की चरम साधना है। जीवन जिस पूर्णता की अनुभूति के लिये सनातन विकलता से विकल रहता है, उसका शमन तो इसी में हो सकता है कि द्रष्टा और दृश्य अपने

भिन्न अस्तित्व को खतम करके एक में ही लय हो जायँ। अवश्य ही इस स्थिति की प्राप्ति के बाद जीवन असीम स्वतंत्रता, शांति और निर्मुक्ति का अनुभव करता होगा। उसके भौतिक बंधन की कड़ियाँ एक एक करके टूटकर गिर जाती होंगी। मैं नही जानता कि यह स्थिति मनुष्य को प्राप्त होती भी है या नही। यह केवल कल्पना और आदर्श में ही निवास करता है अथवा जीवन में कभी उसकी अनुभूति भी होती है? कहनेवाले तो कहते है कि प्रेम का साधक इस सिद्धि को प्राप्त करता है। संभव है ऐसा होता हो पर इतना तो मैं भी कह सकता हूँ कि यह आदर्श चाहे प्राप्त हो अथवा न हो किंतु जीवन इस दिशा की ओर ही उन्मुख है, इसमें संदेह नहीं। अपने समस्त बंधनों के साथ वह प्रकृत्या उस लक्ष्य की ओर बढने के लिये सतत सचेष्ट रहता है इसका मुझे विश्वास है। यही कारण है कि प्रेमी जिसे प्रेम करता है, उसके सारे व्यक्तित्व को अपने समस्त व्यक्तित्व के साथ प्रेम करता है। जब तक ऐसा न हो तब तक वह प्रेम प्रेम ही नही है। उसे केवल भौतिक इंद्रियों का किसी के स्थूल, पार्थिव देह की ओर वासनाओं की तृप्ति के लिये प्रबल आकर्षणमात्र समझना चाहिए। पर मैंने बार बार व्यक्तित्व की चर्चा की है और कहा है कि संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ किसी के पूर्ण व्यक्तित्व को चाहना और उसके संयोग की अनुभूति की इच्छा ही प्रेम है। पूछ सकते हो कि यह व्यक्तित्व क्या चीज है जिसकी चर्चा बार बार की जा रही है? यह प्रश्न अत्यंत टेढ़ा है जिसका उत्तर देने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। जीवन का मूल्य अनुभवगम्य आत्मा मे है, अतः जीवन की अनुभूतियाँ तर्क और बुद्धि की सीमा के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक और परे है। व्यक्तित्व कोई ऐसा ही पदार्थ है जिसकी अनुभूति की जा सकती है पर जिसे शब्दों के अर्थ की सीमा में बताया नही जा सकता। किसी को चंद्र की चंद्रिका में जो अपार सौंदर्य दिखाई देता है वह उसे क्यों दिखाई देता है और वह सौंदर्य कैसा है तथा कैसे अपार है, इसे भला तर्क से कोई कब सिद्ध कर सकता है?

यही कारण है कि 'व्यक्तित्व क्या है' इसका उत्तर शब्दों में नहीं दे सकता। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्र मनुष्य के विभिन्न अंगों को लेकर उसकी समीक्षा अवश्य करते हैं। पर मनुष्य का व्यक्तित्व उन सब छोटे छोटे अंशों से बना हुआ होने पर भी केवल उतना ही नहीं है। उसके व्यक्तित्व की सीमा में वह सारी विवेचना आ जाती है, उसमें सब अंश समा जाते हैं, फिर भी संपूर्ण उन समस्त अंशों के संमिलित योग से कहीं अधिक बड़ा और व्यापक है। मनुष्य को हाथ, पैर, मुँह, कान, नाक, आँख आदि इंद्रियाँ हैं, उसके अंग है, अवयव है। इन सबका मिलाजुला रूप मनुष्य के देह का ढाँचा है। फिर इस बच्चे का निर्माण हाड़, चाम, मांस, रक्त, रक्तवाहिनी नलियाँ, स्नायुओं, ग्रंथियों आदि से हुआ है। शरीरविज्ञान तुम्हें मनुष्य के रूप का ज्ञान इसी की व्याख्या में देगा। पर निश्चित ही मानवव्यक्तित्व इतना ही नहीं है। यह व्याख्या और वर्णन उसके एक अंश पर ही प्रकाश डालता है। रसायन शास्त्र के पंडित से पूछोगे कि मनुष्य क्या है तो वह उन अनेक तत्वों और द्रव्यों की सूची पेश कर देगा जिनके द्वारा रस, रक्त, मांस, चर्म, हड्डियाँ तथा अवयव और अंग बने हुए हैं। पर यह उत्तर भी मानवव्यक्तित्व के एक अंश का ही जिक्र करता है, संपूर्ण को सामने नहीं लाता। फिर भौतिक शास्त्री से पूछो और वह परमाणुओं तथा

विद्युत्कणों के रूप में समस्त रासायनिक तत्वों और द्रव्यों की व्याख्या कर देगा और कहेगा कि मानवशरीर उन विद्युत्कणों का पुंजमात्र है। निश्चय ही यह भी मानव के एक अंश की ही व्याख्या है। मानवशास्त्र के विद्वान् अपने विविध मत-मतांतरों को लेकर मानव की व्याख्या करेंगे और कहेंगे कि मनुष्य आदतों का पुतला है, सहज और सजात प्रवृत्तियों से निर्मित प्राणी है तथा अपने चेतन और अचेतन मन से उत्पन्न एक जटिल पदार्थमात्र है। तो क्या सचमुच केवल हाथ, पाँव आदि इंद्रियों और अंगों का ढाँचामात्र है? क्या वह केवल रासायनिक तत्वों और द्रव्यों अथवा विद्युत्कणों का समूहमात्र है या क्या केवल आदतों का पुतला है? आखिर वह है क्या? वास्तव में मनुष्य इन सब का जोड़ ही नहीं है। ये सब उसमें समा जाते हैं पर वह इन सबसे कहीं बड़ा है। आज का सारा विज्ञान मानव के एक एक अंग को लेकर ही उसका विश्लेषण करता है। इन सब अंशों को एक साथ जोड़कर रख देने के बाद जो ढाँचा खड़ा होता है वह भी मानव व्यक्तित्व की पूर्णता का वर्णन समूचे रूप में नहीं कर सकता। मानव इस विभिन्न तथा पृथक् अंशों और पहलुओं से, जिनकी विवेचना विज्ञान करता है, कहीं अधिक बड़ा है। उसमें इन सब का समावेश हो जाता है पर इन सब का संमिलित योग भी उस कुल का चित्र सामने नहीं उपस्थित करता। फलतः मानव के व्यक्तित्व में उसका संपूर्ण रूप समाविष्ट है। वह संपूर्ण कही अधिक विस्तृत और व्यापक है जिसका विश्लेषण मनुष्य को ससीम बुद्धि नही कर पाती। उसका वर्णन और विश्लेषण नहीं किंतु अनुभव अवश्य होता है। यह वर्णनातीत अनुभुति ही उसकी सत्ता का प्रमाण है।

यही व्यक्तित्व जब आमूल किसी दूसरे व्यक्तित्व को प्रेम करता है तो वह केवल प्रेमास्पद के भौतिक रूप को ही नही चाहता। निःसंदेह उसके प्रेम में प्रेमास्पद के रूप का सौंदर्य भी अति ऊँचा ही नही बल्कि अतुलनीय स्थान रखता है। प्रेमी प्रेमास्पद के शरीर को चाहता है, उसके रूप को भी चाहता है, उसके हृदय को भी चाहता है। उसे पाकर वह अपने समस्त भौतिक और ऐंद्रिक वासना की तृप्ति प्राप्त करता है, पर इसके साथ साथ वह उस व्यक्तित्व को भी चाहता है जिसकी आभा प्रेमी का व्यक्तित्व पा लेता है। इन दोनों का संमिलन वह ऐक्य प्रदान करता है जो वस्तुतः आत्मा की परितृप्ति का कारण बनता है। प्रेम का क्षेत्र अविनश्वर आत्मा में है, इस कारण उसकी अनुभूति का भांडार अक्षय है। प्रेम छीजना नहीं जानता। वह क्षणस्थाई नहीं होता। उसे प्राप्त करने के बाद सदा अतृप्त रहने-वाला मानव फिर कुछ पाने की इच्छा नही रखता। वह जीवन की समस्त भौतिक और अभौतिक इच्छाओं का पेट भर देता है। मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य की इंद्रियाँ और उसकी वासनाएँ मिथ्या हैं अथवा विशुद्ध रूप से घृणित हैं। मेरी दृष्टि में उनमें भी सत्याश है क्योंकि वे भी मानव की चेतन आत्मा के ही एक पहलू हैं, एक अभिव्यक्ति हैं। पर इसके साथ मैं यह भी मानता हूँ कि वे ही सबकुछ नहीं हैं। वे वास्तव में कुल के ही एक छोटे से अंश है।

फलतः केवल उनकी तृप्ति से कुल की तृप्ति नहीं होती पर कुल को तृप्त करने का साधन उनको अवश्य तृप्त कर देता है। प्रेम कुल को तृप्त करता है। उस कुल की तृप्ति के साथ साथ उसके अंग प्रत्यंग, मूर्त अमूर्त, स्थूल सूक्ष्म, पार्थिव अपार्थिव

सब तृप्त हो जाते हैं। पर मैं जानता हूँ कि प्रेम की साधना दुःसाध्य है। प्रेम अंतर्मुखी होता है। मनुष्य प्रकृत्या बहिर्मुखी होता है अतः गहराई में जाना नहीं चाहता नारी का प्रेम जैसे मानव व्यक्तित्व को, उसके हृदय, शरीर और आत्मा को आच्छन्न कर देता है वैसे ही उसके रूप का मोह भी बुद्धि और मन को उद्भ्रांत बना देता है। प्रेम जैसे अंतर्मुखी है मोह वैसे ही बहिर्मुखी है। इनमे से पहला जैसा विशुद्ध सत्य है वैसा ही दूसरा असत्य है। रूप के मोह की मदिरा का नशा रूप के साथ साथ अथवा उसके उपभोग से प्राप्त क्षणिक तृप्ति के साथ साथ उतर जाता है। रूप, केवल रूप भौतिक रूप नश्वर होता है। बुद्ध ने अपने महानिर्वाण के समय जिस अंतिम सत्य का प्रतिपादन किया था उसमे उन्होने कहा था कि 'वय-धम्मा संसारा'। अर्थात् जगत के पदार्थों की आयु होती है। नारी के रूप की भी आयु है। उसकी समाप्ति अथवा उपभोग के साथ उसका आकर्षण, उसकी चाह और उसका मोह नष्ट हो जाता है। मानव बहिर्मुख होने के कारण उस तात्विक सत्य में नही जाता जिसकी आभा नारी के रूप में झलक जाती है। वह उसकी भौतिक अभिव्यक्ति में ही फँसकर तृप्त हो जाना चाहता है।

आखिर मनुष्य का वास्तविक रूप भी तो भौतिक बंधनों और ढाँचे से ही घिरा हुआ है। वह करे क्या ? सत्य की छाया उसे झलक अवश्य उठती है, क्षण भर के लिये उसकी अनुभूति भी हो जाती है पर तब तक भौतिकता के ढाँचे में रखे हुए चेतन पर भौतिकता ही हावी हो जाती है। यही कारण है कि मनुष्य कामप्रवृत्ति और नरनारी के आकर्षण में परस्पर के रूप और उसके उपभोग को ही प्राधान्य देता है। जब नश्वर उपादान को ही प्राधान्य दिया जायगा तब फिर उसके आधार पर खड़े हुए आकर्षण का भवन भी समय आने पर धराशाई हुए बिना न रहेगा। जीवन में आज इसी का दृश्य दिखाई देता है। आज का युवक प्रतिदिन अपनी प्रेमिका में परिवर्तन करता फिरता है। विदेशी शिक्षादीक्षा से प्रभावित युवतियाँ भी नए नए प्रेमी बनाती रहती हैं। अतृप्ति और सदा अतृप्ति की आग मे जलते रहना और प्रतिदिन उसकी तृप्ति के लिये नए नए साधन खोजते फिरना उनके जीवन की चरम साधना हो गई है। वे तर्क करते है कि हृदय का धर्म जड़ता नही है। वह बदलता रहता है। जिस प्रकार सूखे पुष्प गिर जाते है और नए खिलकर स्थान को भर देते हैं वैसे ही एक मन में आता है, जीवन उसका उपभोग करता है और जब वह नीरस हो जाता है तो दूसरा रसदार आकर उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

इस तर्क में कितनी भ्रांति है इसे वे नही देखते। वे अनुभव नहीं करते कि तृप्ति, अतृप्ति की सत्ता केवल बाहर के भोग में नहीं है। उसका संबंध है जीवन के मूल स्रोत से। मानवजीवन यदि केवल भौतिक होता तो कदाचित् यह तर्क भी उपयुक्त होता। पर भौतिकता उसका एक छोटा सा अंशमात्र ही है। उसके व्यक्तित्व की सीमा उससे कही अधिक विस्तृत है। अंश की तृप्ति के साथ संपूर्ण की तृप्ति कदापि न होगी। फलतः नरनारी का संमिलन केवल शरीर और रूप के स्तर पर होना मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति हर्गिज नही कर सकता। उसे कुछ और गहरे जाना ही होगा, अन्यथा जीवन सदा अतृप्त, अधूरा और शून्य रहेगा।

यही है परम सत्य जिसका दर्शन प्रेम के उस आराधक ने पूर्ण रूप से किया है जिसने अर्द्धनारीश्वर के रूप की कल्पना की है। शिव शक्ति के बिना अधूरा है, अपूर्ण है। शक्ति के संमुख नटराज के अनंत नृत्य से एकीभूत हुआ सनातन नर चिरंतन नारी के साथ मिलकर उस अविनश्वर तत्व का रूप ग्रहण करता है जिस पर यह सृष्टि आश्रयभूत हुई है। फिर शिव ही शक्ति हो जाता है और शक्ति ही शिव। शक्ति जब अंतर्मुखी होती है तब शिव हो जाती है और शिव जब बहिर्मुख होता है तब शक्ति हो जाता है। शिव शक्ति की यह एकरसता, तादात्म्य, अक्षय संयोग वह परम रहस्यमय सत्य है जिसकी अनुभूति के बाद जीवन अनंत निर्मुक्ति का उपभोग करता है।

अब मैं इस पत्र को बढ़ाना नहीं चाहता। मैंने अपनी दृष्टि से कामप्रवृत्ति और प्रेम की तात्विक व्याख्या करने की चेष्टा की है। मैं जानता हूँ कि आज इस पत्र को बहुत सी बाते तुम्हारी समझ में भी न आएँगी। पर वह समय दूर नहो है जब वे बातें समझ में आने लगेगी। आज किशोर हो, चार वर्ष में युवक होगे। जीवन की यह समस्या उस समय आ सकती है। आज नही तो उस समय इस पत्र के पन्नो को उलटकर देखना। शायद अपने मन की स्थिति और उसके स्वरूप को समझने में इससे कुछ सहायता मिल जाय। कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिए, इसका इशारा भी इन पत्रों में मिल जायगा। जो कुछ लिखा है वह मेरी अपनी दृष्टि और अनुभूति है। मैं नही जानता कि समय पाकर इसमें से कितना ग्रहण करोगे और कितना न करोगे। पर इतना मैं अवश्य जानता हूँ कि जीवन तथा उसकी प्रवृत्तियो को इस दृष्टि से देखकर मैंने अपनी समस्या हल करने में बहुत कुछ सफलता पाई है। इससे मुझे शांति भी मिली है। मेरे मार्ग का निर्धारण भी हुआ है जिसपर जीवनरथ को हाँकता हुआ आगे बढ़ा हूँ। यह अनुभूति और विचार तुम्हारे अर्पण हैं। इनसे जो सहायता चाहना लेना। आज विचार की धारा को यही रोकता हूँ।

तुम्हारा
**बाबू**

# १८

नैनी सेंट्रल जेल
ता०.

प्रिय लालजी !

जीवन रहस्यमय पहेली है। उसकी व्याख्या केवल तर्क से नहीं हो सकती। उसमें इतनी जटिलता, इतना दाँवपेच और इतना रहस्य छिपा हुआ है कि उसे समझना असंभव सा होता है। मानवजीवन की दशा ही कुछ विचित्र है। मनुष्य यदि केवल पेट और इंद्रियों का गुलाम होता तो कदाचित् उसकी समस्याएँ भी सरल होतीं। अन्य जंतुओं की भाँति उस दशा में उसके सामने भी दो ही प्रश्न मुख्य होते—किसी प्रकार वह अपनी उदरपूर्ति कर लेता और फिर प्रजनन करता। बस इसी में जीवन के क्षण समाप्त कर डालता। पर मनुष्य के जीवन की सीमा इतनी परिमित नहीं है। मानव विकास की जिस धारा का परिणाम है उसने इस प्राणी को कहीं अधिक ऊँचा उठा दिया है। विकास ने उसकी सर्वांगीण उन्नति की है। उसने न केवल उसके देह के ढाँचे में परिवर्तन किया है बल्कि प्रकृति प्राणी को जितनी दूसरी विशेषताएँ प्रदान करती है उन सबका विकास मानवजीवन में शरीर की ठठरी के साथसाथ होता रहा है। प्रवृत्ति और विवेक, भावुकता और अनुभूति, इच्छा और कल्पना, सचेष्टता और संयम, लालसा और उत्सर्ग सभी प्रकृति प्रतिप्रदत्त विशेष भावनाएँ हैं जो मानवजीवनके विकास के साथ साथ उसमें विकसित होती रहीहैं। आज मिली हुई इस बिरासत के बोझ से मनुष्य दबा हुआहै।

फलतः विकास ने उसके जीवन में अनेक गुत्थियाँ, अनेक पहलू और अनेक दाँवपेंच उत्पन्न कर दिए हैं। इन सबने मिलकर उसके जीवन का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत कर दिया है। यह सच है कि पेटपूजा और प्रजनन उसके जीवन में जरूरी स्थान रखता है और इन दोनों बातों का प्रभाव उस पर पड़ता रहता है, फिर भी उसके विस्तार की सीमा इससे कहीं अधिक आगे है। मनुष्य शब्द के उच्चारण-मात्र से जीवन के संबंध में हमारी कल्पना असीम हो उठती है। इसी से लोग कहते है कि मानव प्रकृति की सबसे बड़ी विभूति है। मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रकृति ने अनंत प्रकार की सृष्टि की पर उसे अपनी कृति पर संतोष नहीं हुआ। उसने पेड़पौधों की सृष्टि की पर वे जड़ ही रह गए। उसने पशुपक्षियों की सृष्टि की। ये प्राणी चेतन तो थे पर रह गए अंततः पशु ही। संभव है इसने अदृश्य देवों की सृष्टि की हो जो चिन्मय रहे होंगे पर वे भी देव ही रह गए। प्रकृति को इनमें से किसी से भी संतोष नही हुआ। उसकी कला ने इन विभिन्न कृतियो में केवल एक ही पहलू की अभिव्यक्ति करने में सफलता प्राप्त की। अपनी कला की इस अपूर्णता से कलामयी को तोष नहीं हो सकता था। अंततः उसने मानव की

रचना की जिसमें उसकी अनंत विमोहक कला अपनी चरमता को पहुँच गई। उपर्युक्त समस्त पहलुओं का समन्वित रूप ही पूर्ण कहला सकता था। इस कमी की पूर्ति मानवरचना में हुई। फलतः हम मनुष्य में सब कुछ देखते हैं। उसमें जड़ता है, उसमें पशुता है, उसमें चेतनता है और उसमे देवत्व है और इन सबका संमिलित रूप मानवता के रूप में परिस्फुरित हुआ है।

वह मनुष्य ही है जो अपने कौड़ीभर स्वार्थ के लिये खून तक कर डालने में समर्थ होता है। अपनी तुच्छ प्रवृत्ति के वश मे होकर, क्रोध के आवेम में आकर, हिंस्र पशु से भी भीषण निर्दय कार्य में प्रवृत्त होनेवाला भी मनुष्य ही होता है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अहंकार तथा स्वपूजा में अपने को भूलकर निम्नस्तर पर उतरकर कार्य करनेवाला भी मनुष्य ही होता है। धोखा देने, फरेब करने, हत्या और डकैती करने में भी न चुकनेवाला वह मनुष्य ही है जो आसमान से गोले फेंककर दुधमुँहे सुकुमार बच्चो तथा निर्मल और निर्दोष नरनारियों को भून डालनेमे जीवन की परम सार्थकता समझता है। परंतु वही मनुष्य है जो फिर अपने पड़ोसी की प्राणरक्षा करने मे आग में कूदता दिखाई देता है। वही मनष्य विकराल नदी की तीव्र धारा में बहते तथा आर्तस्वर मे प्राणरक्षा के लिये गुहार करने प्राणी को बचाने के लिये प्राणों का मोह छोड़कर आगे दौड़ पड़ता है। किसी की सेवा और संतोष के हेतु सर्वस्व को स्वाहा करने के लिये अग्रसर होनेवाला वह मानव ही है जो ज्ञान के लिये, सत्य ये शोधन के लिये अपने को उत्सर्ग करता दृष्टिगोचर होता है। वह मीलो समुद्र के नीचे चला जाता है, पर्वत की चोटियो पर चढ़ जाता है, अपने हृदय की कुल लालसाओ का त्यागकर जंगल मे धूनी रमाता है, अपने अकेले प्राण को लिये अमरता के अनंत पथ को अपने चरणों से नाप लेने के लिये निकल पड़ता है।

मानव का यह विरोधोत्मक रूप ही उसके जीवन की पहेली है। इसने उसे विशेषता और महत्ता भी प्रदान की है। उसमें इंद्रियाँ है, इंद्रियो की वासना है, बुभुक्षा है, काम है; पर इसके साथ ही उसमे हृदय है, भावना है, कला है और पवित्रता है। उसमे मस्तिष्क है और जिज्ञासा है तथा सत्य की पूजा करने की प्रबल इच्छा है। वह पेट के लिये लड़ता है पर अपने हृदय को नही भूल सकता। हृदय की भावना में बहता है पर अपने मस्तिष्क को, बुद्धि को, विवेक को नही भूल पाता। उसका जीवन यदि केवल पशु के समान होता तो उसमें सिर्फ भौतिकता होती। यदि केवल देव के समान होता तो उसमें आध्यात्मिकता ही होती पर मनुष्य इन दोनो से अधिक हे। वह मानव है इसलिये उसका जीवन भौतिक भी है, आध्यात्मिक भी। यही कारण है कि उसका जीवन अमानुष प्राणियों से कही टेढ़ा, विकट और जटिल है। उसमें गुत्थियों में गुत्थियाँ पड़ी हुई हैं, जो एक दूसरे से बेतरह उलझी हुई हैं। किसी एक की भी उपेक्षा करना संभव नही है क्योंकि उस स्थिति मे मानव मानवता से गिर जाता है। मानवता की मर्यादा की यह माँग है कि जीवन की, उसकी समस्याएँ ऐसी रहें जिनमें कई पहलू हों। उनका भौतिक पहलू भी होगा, आध्यात्मिक भी होगा, वे प्रवृत्तिमूलक भी होंगी, विवेकमूलक भी। यही कारण है कि मानवजीवन की समस्या को सुलझाने का कोई

एक नुस्खा बना देने में आजतक जगत् का कोई पैगंबर, देवदूत, ऋषि, तत्वद्रष्टा तथा मनीषी सफल नहीं हुआ। मनुष्य को इन तमाम पहलुओं का विचार करते हुए, सबको ध्यान में रखते हुए, और उन सबको तौलते हुए जीवन का ढंग पकड़ना पड़ता है। उसे अपने विविध रूप से सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है क्योंकि जीवन नैया को खेने का एकमात्र उपाय यही हो सकता है।

जीवन के हर पहलू में, उसके सभी क्षेत्रों में यह स्थिति लागू होती है। काम की प्रवृत्ति और नारी की समस्या भी इससे बरी नहीं है। नारी को इसी कारण भौतिक जीवन की वासना की तृप्ति और उपभोग के एक साधनमात्र के रूप में देखना जीवन के एक अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण पहलू की उपेक्षा करना है। यह मानवता की मर्यादा का अपमान करना है और उसके ऐसे तथ्य को ठुकराना है जो विकासपथ के पथिक के रूप में मनुष्य को विरासत में मिली है। फलतः मैं मानता हूँ कि नारी को एक तात्विक सत्य के रूप में, जीवन की महाशक्ति के रूप में ही देखना और ग्रहण करना होगा। जीवन की पूर्णता और मानवता की रक्षा तथा कल्याण के लिये यही एकमात्र उचित दृष्टिकोण हो सकता है। जब-तक ऐसा नहीं किया जाता तबतक तृप्ति और सुख तथा शांति की उपलब्धि असभव है। केवल ऐंद्रिक और भौतिक परितृप्ति के लिये नारी की उपयोगिता में विश्वास करना और उसे उस दृष्टिकोण से देखना, न केवल जीवन को सदा अतृप्त और ऊर्ध्वोन्मुख वासना की आग में जलाते रहना है, बल्कि समाज और कामप्रवृत्ति की उस समस्या को जन्म देना है जिसका हल कभी मिल ही नहीं सकता। स्मरण रखना चाहिए कि नारी यदि शक्ति है तो उसका दुरुपयोग विघातक हो सकता है। आज समाज में जो धारा बह रही है, वह कामप्रवृत्ति और नारी के दुरुपयोग की ही धारा है। भौतिकता के गिरिशृंग पर मद में मस्त खड़ा यूरोप मस्तक उठा कर जगत् की ओर तीव्र दृष्टि से देख रहा है। उसकी आँखों से निकली चिनगारियाँ समस्त मानवसमाज के हृदय में पार्थिवता की लौ जला रही हैं। यूरोप ने जीवन के प्रति जिस विचारधारा और दृष्टिकोण को जन्म दिया है, उसका प्रवाह इस देश में भी आ रहा है। मैं मानता हूँ कि विचारों के इस प्रवाह का आना अनिवार्य है क्योंकि उसके मार्ग का अवरोध न तो किया जा सकता है और न कदाचित् करना चाहिये। नए विचारों का आना और पुरानों से उनका संघर्ष होना प्रगति तथा विकास के लिये आवश्यक होता है। इस संघर्ष से जो गति उत्पन्न होती है वह समाज को सप्राणता प्रदान करती है, उसमें संचलन का सूत्रपात करती है। आखिर यह सजीवता और संचलन ही तो जीवन और विकास का स्रोत है। अतः विचारों के इस नव प्रवाह का मैं स्वागत करता हूँ, पर साथसाथ यह आवश्यक समझता हूँ कि मनुष्य आँखें खोलकर इस प्रवाह को देखता भी रहे। आँखें मूँदकर प्रवाह में बह जाना भयावह हुआ करता है क्योंकि वह न जाने कब किस खड्ड में ले जाकर झोंक दे सकता है। फिर प्रवाह के साथ बहुत सा कूड़ा करकट भी बहता हुआ आता है जिससे अपने को बचाकर ही मनुष्य संतरण कर सकता है।

यूरोप की सारी सभ्यता और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ऊपर से नीचे तक भौतिक है। उसकी कमजोरी और उसका दोष यही है कि उसने मनुष्य के केवल एक ही पहलू का दर्शन किया है और उसे ही एकमात्र संपूर्ण सत्य मान

लिया है। उसकी दृष्टि में जीवन केवल कुछ भौतिक द्रव्यों और तत्वों की रासायनिक क्रियाकलाप का परिणाम है, जो सहसा एक अनिश्चित घटना के रूप में धरातल पर घटित हो गया है। मानव की चेतना भौतिक परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से उद्भूत एक परिणाम है जिसकी अनुभूति मानवरूपधारी भौतिक पिंड किया करता है। जिस जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण हो उसका भला कोई उद्देश्य, कोई लक्ष्य और कोई प्रयोजन हो ही कैसे सकता है? जब जीवन निरुद्देश्य और निष्प्रयोजन है जब फिर जगत् का ही कौन सा प्रयोजन और उद्देश्य हो सकता है? यूरोप का समस्त सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा नैतिक जीवन आज इसी भाव से आच्छन्न है। सत्य की शोध के लिये जिस वैज्ञानिक पद्धति का जन्म हुआ उसने इस भाव को ही परिपुष्ट किया। विज्ञान ऐसे किसी पदार्थ की सत्ता स्वीकार करने के लिये तैयार नही है जिसका स्थूल, पार्थिव और दृष्ट स्वरूप न हो। इस दृष्टिकोण ने जहाँ अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों से ग्रस्त मानव की मूढ़ता को छिन्नभिन्न करके उसे सत्य के दर्शन के लिये उत्प्रेरित किया, वहीं उसमें संशय और अविश्वास की वह आग सुलगा दी जिसमें ससीम मानवचेतना जलने लगी। आज वह अपनी सीमा से परे किसी सत्य के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये तैयार ही नहीं होती। फलतः उसकी दृष्टि मे सत्य को, कल्याण को, सौंदर्य को, कोई स्वतंत्र सत्ता है ही नही। जीवन मे किसी आदर्श का कोई मूल्य आँकने के लिये वह तैयार नही है। उसकी दृष्टि मे जीवन को आँकने की केवल एक कसौटी है और वह है 'उपयोगितावाद'। जिस क्षण जो बात जीवन की रक्षा और तृप्ति के लिये उपयोगी ज्ञात हुई वही उस समय वांछनीय, ग्राह्य और सुंदर है। जिस क्षण आवश्यकताओं ने किसी दूसरी बात को उपयोगी बताया उसी समय पहले को बदलकर दूसरे को ग्रहण कर लेना उचित है।

यूरोप की इस दृष्टि ने मानवजीवन के आध्यात्मिक अंश की निष्ठुर उपेक्षा की है। अपने प्रकाश से उसने वह चकाचौंध उत्पन्न कर दी है कि आधुनिक समाज दूसरे पहलू की ओर देखने में असमर्थ हो गया है। मानव का जीवन और उसकी चेतना भौतिक द्रव्यों तथा विद्युत्कणों की उछल कूद तथा परिस्थितियों के घात-प्रतिघात की सीमा से कही अधिक परे है, इसका ज्ञान ही जैसे नही रह गया। स्थूल विज्ञान की सीमा भले ही वहाँ तक न पहुँचती हो पर मानव की अंतश्चेतना उसकी अनुभूति करती है। इस अनुभूति की उपेक्षा करना भी घोर दुराग्रह और एक प्रकार का अंधविश्वास ही है। पर आज यह अंधविश्वास यूरोप की सबसे बड़ी देन है जिसे पाकर मानव मस्त हो गया है। सरलता से समझ सकते हो कि इस दृष्टिकोण और आदर्श पर स्थापित जीवन का स्वरूप कैसा होगा। मानवप्रकृति में सन्निहित प्रवृत्तियाँ और वासनाओं की तृप्ति के सिवा जीवन का और कौनसा प्रयोजन बाकी रह गया? भोग और विशुद्ध भोग, एकमात्र लक्ष्य है जिसकी ओर मानव की समस्त शक्ति, ज्ञान, स्फूर्ति और प्रेरणा लगी रहनी चाहिए। समाज का अस्तित्व, जगत् का अस्तित्व, सामाजिक नियमों और नैतिक बंधनों की उपयोगिता, मानवज्ञान और बुद्धि का प्रयोजन सब केवल इसी बात के लिये हैं कि मानव अपनी लालसाओं की, आवश्यकताओं की, अधिक से अधिक पूर्ति कर सके।

जो बातें इसमें सहायक हों वे ही ग्रहणीय है और जो बाधक हों उन्हें तोड़फोड़ डालना कर्तव्य है। कहा जाता है कि यही प्रक्रिया प्रगति की जननी है।

भौतिकता की यह भयानक पुट सारे जीवन को ओतप्रोत कर रही है। जीवन में जिस लालसा का प्राधान्य जितना ही अधिक है उस पर उतना ही अधिक इस भाव का रंग चढा हुआ है। नारी की समस्या और काम की प्रवृत्ति का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर निर्विवाद रूप से सबसे अधिक है। फलतः इस नए विचार ने उसे अपेक्षाकृत सबसे अधिक रँगा है। नारी के प्रति आधुनिक दृष्टि घृणित रूप से भौतिक और बीभत्स हो गयी है। आश्चर्य होता है जब सोचता हूँ कि इस वीभत्सता को किस प्रकार अंधा होकर मनुष्य आज प्रगतिशीलता' सभ्यता और आधुनिकता का नाम प्रदान किए हुए है। 'नारी के अधिकार', 'नारी की स्वतंत्रता', 'नारी को समान पद' आदि के जोरदार नारे उठाए जाते है और आधुनिकता के नाम पर उसके मोक्ष की गुहार लगायी जाती है। गला फाड़फाड़कर चिल्लानेवाले ऐसा हल्ला मचाते हैं मानों वे चिरपीड़िता, शोषिता और पराधीना, हीना, दीना और मलिना नारीजाति के परम उद्धारक होकर अवतीर्ण हुए है। पर इन उद्धारकों ने नारी को प्रदान क्या किया है और उसकी कल्पना किस रूप में करते है इसकी ओर ध्यान तो दीजिए। उन्होंने उसे कौन सा पद प्रदान करने की उदारता दिखाई है? थोड़ा गहराई में उतरकर देखो तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कल्पना में नारी मानवलालसा की पूर्ति और उसके उपभोग की प्रवृत्ति का पूरक होने के सिवा और कोई स्थान नहीं रखती। आखिर वे चाहते क्या हैं? वे चाहते है नर और नारी को इस प्रकार उन्मुक्त कर देना कि वे अपनी कामप्रवृत्तियों की तृप्ति बंधनहीन होकर कर सकें। दोनों परस्पर को अपने उपभोग का साधन समझें और प्रवृत्तियों की परितृप्ति का एक उपादान मानकर तत्सम जीवन का संचालन करें, यही भाव उनकी कल्पना की जड़ में है।

भूख, प्यास, निद्रा की भाँति काम भी मानव की सजात प्रवृत्ति है जिसकी तृप्ति सरल भाव से कर लेना जीवन का नैसर्गिक अधिकार माना जाता है। इसमें कैसा बंधन और क्यों रुकावट? यह अस्वाभाविकता क्यों? हृदय पत्थर का बना हुआ जड़ पदार्थ नही है। उसका धर्म ही है, स्वभाव ही है, बदलते रहना। कोई कारण नहीं कि उस सोते के नीचे हाथ पसारे पड़े रहें जिसका जल सूख गया हो। जितना जब जहाँ से मिले उतने को ही सत्य समझकर स्वीकार कर लें और जब रस सूख जाय तो उसे अन्यत्र ढूँढ ले। दुनियाँ में अपना पराया तो कोई है नही। पता नही इस महोदधि में लहरों के सहारे न जाने कौन कहाँ से निकट आ जाता है और फिर उन्ही के प्रवाह में काल पाकर दूर चला जाता है। फिर इतना बंधन, भले बुरे, नीतिअनीति का विवाद क्यों? क्यों इतनी खीचातानी की जाय। सुख के क्षण जब जहाँ मिलें उन्हें बटोर लेना और फिर अतीत को भूलकर वर्तमान और भविष्य की चिंता करना, यही तो जीवन की उपादेयता है। इसके विरुद्ध और सारी कल्पना निर्मूल, भ्रांत तथा दुःख का स्रोत है। संक्षेप में यही है आज का दर्शन जिसके आधार पर नरनारी का संबंध और काम की प्रवृत्ति आश्रित है। पर इस दर्शन का अर्थ सिवा इसके और क्या हुआ कि नर और नारी ने निष्ठरतापूर्वक

परस्पर के शोषण, दोहन और उपभोग को ही अपने संबंध का एकमात्र आधार बनाया है। नर ने नारी को निचोड़कर उसका रस निकाल लेने और फिर उसे सिट्ठी की भाँति दूर फेंक देने के सिवा क्या कुछ दूसरी कल्पना भी की है ? नारी के व्यक्तित्व में कला, पवित्रता तथा कोमलता की जो आभा थी उसे विनष्ट करके उसके सौंदर्य तथा रूप को नग्न सामने ला खड़ा करना और बीभत्स लिप्सा की कसौटी पर कसना क्या उसका घोर अपमान करना नही है ? यही नही है नारी-मोक्ष, अधिकार और नारीस्वातंत्र्य का प्रकृत रूप !

आज नारी को ही अपने इन उद्धारकों से अपनी रक्षा करने के लिये उठ खड़ा होना होगा। जिन्हें सचमुच नारीत्व की मर्यादा के प्रति श्रद्धा है उन्हें इस प्रवाह को रोकने की चेष्टा करनी पड़ेगी। इसलिये नही कि वे नारीस्वातंत्र्य और अधिकार के विरोधी है बल्कि इसलिये कि शब्दजालो के आवरण मे नारी की जो छीछालेदर की जा रही है वह उन्हें पसंद नही है। नारी जननी है, वह माता है, वह जीवन की शक्ति और स्फूर्ति है। इस दु:खपूर्ण और अपूर्ण तथा अभाव मे भरे हुए जगत् में सुख के जो क्षण पीड़ित मानवजीवन को प्राप्त हो सकते है उनका स्रोत और साधन नारी है, माता के स्वरूप में हो अथवा पत्नी के सहचरी और जीवनसंगिनी के रूप मे। वही जीवन की मरुभूमि मे सुख और रस की धारा बहाकर उसे अभिसिंचित करती है। स्नेह, सेवा और ममता उसके अतःकरण का गूढ रूप है। वह अपने व्यक्तित्व से भौतिक और अभौतिक, स्थूल और सूक्ष्म, जीवन की समस्त लालसाओ और कामनाओं की पूर्ति करती है। ऐसे तत्व को एकमात्र भोग का साधन बनाने की कुचेष्टा और उसे केवल एक उसी दृष्टिकोण से देखना अज्ञान और पतन का द्योतक है। नारी का मोक्ष, उसका उद्धार और उसके अधिकार बिलकुल इसके विपरीत दिशा में है। आज तक यदि नर ने सदा उसे अपनी लिप्सा की पूर्ति के साधन के रूप में देखा है तो आज उक्त दृष्टिकोण बदलने में ही उसका सच्चा आदर है। वह जीवनरथ की धुरी के रूप में ग्रहण की जाय, आत्मा और हृदय के पहलू के रूप में स्वीकार की जाय और अपूर्ण जीवन को पूर्णता प्रदान करनेवाले तत्व के रूप में देखी जाय। मनुष्य की सजात और भौतिक कामप्रवृत्ति को नियमित और व्यवस्थित करनेवाली महाशक्ति के रूप अवतीर्ण हो। उसका यही नैसर्गिक पद है जिसे उसे प्रदान करना चाहिए। समान पद और सच्चा अधिकारप्रदान इसे ही कह सकते हैं। यही है उसका वास्तविक मोक्ष और उद्धार।

आधुनिकता के पुजारी बड़े गर्व से कहते हैं कि यूरोप ने नारीसमस्या और कामप्रवृत्ति का प्रश्न हल कर डाला है। समझ मे नहीं आता है कि इस प्रकार की घोषणा करनेवालो का अपनी घोषणा से तात्पर्य क्या है ? नारी की समस्या और कामप्रवृत्ति का प्रश्न है क्या ? वास्तव में यह प्रश्न है मानवप्रकृति के अन्तर्द्वंद्व का। एक ओर मनुष्य की प्रवृत्तियाँ है, इंद्रियों की भोगलिप्सा है और दूसरी ओर उसका विवेक है, उन्नत और विकसित उत्तमांश है। एक चाहता है नारी के रूप और सौंदर्य का भौतिक उपभोग और दूसरा केवल इतने को ही जीवन की चाह की पूर्ति के लिये इदमित्थं नही समझ पाता। एक अपनी अतृप्ति की आग मे जलता हुआ जहाँ कहीं भी नारी के शरीर की गंध मिले उसे चूसकर भूख मिटाना चाहता

है, और दूसरा प्रवृत्ति की इस क्रीड़ा के बंधनहीन हो जाने में उस कोमल कलामयी पुनीत भावना का विनाश और भ्रष्टीकरण देखता है जिसकी अनुभूति मानव-चेतना अपने गूढ़ रूप में किया करती है। इस सतत, निरन्तर द्वंद्व में मनुष्य सामंजस्य कैसे स्थापित करे। यही है नारी की समस्या और कामप्रवृत्ति का प्रश्न। यूरोप ने इसे हल कर दिया है, यह निर्णय वर्तमान का पुजारी प्रदान कर देता है। पर सोचने की बात है कि आखिर कौन सा हल यूरोप ने उपस्थित किया है। वस्तुतः उसने जीवन के एक पहलू का कपाट बलपूर्वक बंद कर दिया है और दूसरे को स्वच्छंद अपना खेल खेलने के लिये स्वतंत्र कर दिया है। मानव के उत्तमांश का, उसके विवेक का, निर्दलन करके, उसकी सत्ता के अस्तित्व को भूलकर केवल प्रवृत्तियों को अबाध गति से प्रवाहित होने देना, यही यूरोप का हल है। काम की प्रवृत्ति स्वाभाविक है अतः उसके बहाव को स्वाभाविक और सरल भाव से बहने देना ही उचित और स्वाभाविक ज्ञात होना है। उसके मार्ग मे तरह तरह के बंधन और तरह तरह की रुकावटें पैदा करना अप्राकृतिक अतएव हानिकारक और व्यर्थ है। इसमे जीवन के सरल प्रवाह, उसके सुख और उसकी शांति मे बाधा पड़ती है। अतएव प्रवृत्तियों की निर्बंध गति स्वीकार कर लेना आज का हल है जिस पर गर्व किया जाता है।

मैं पूछता हूँ कि भला यह हल क्या हुआ ? एक मनुष्य है जो आगे बढ़ना चाहता है, पर सामने भारी खड्ड है। चाहता है वह आगे कदम बढ़ाना पर नेत्र कहते है कि पैर बढ़ाया और खड्ड मे गिरे। इस समस्या मे पड़ा हुआ मनुष्य उसका हल निकालता है। उसने आँखें बद कर लीं, पैर आगे बढ़ाया और धड़ाम से खड्ड मे जा गिरा। अब उस अंधकारावृत्त गह्वर में पड़े पड़े वह अभिमान के साथ घोषणा करता है कि मैंने समस्या हल कर डाली और अपनी इस सूझ पर संतोष प्रकट करता है! यूरोप का हल भी कुछ ऐसा ही हल है। जीवन के एक आवश्यक और महत्वपूर्ण अंश का आपने हनन कर डाला और अर्द्धांश को लेकर उसे ही संपूर्ण मान बैठे। अब कहते है कि आपने सारा प्रश्न सुलझा लिया! इसका जो परिणाम हो सकता है वह स्पष्ट है। जीवन भर भोग का इतना साम्राज्य छा गया है कि उसने भ्रष्टता की सीमा प्राप्त कर ली है। नरनारी आज परम प्रेम के नाम पर परस्पर मिलते हैं और कल दोनों अलग होते है और किसी तीसरे के परिरंभण में नजर आते हैं। रास्ते चलते पति पत्नियों का वरण किया जाता है और सप्ताहांत तक सारा मामला खत्म हो जाता है। कामप्रवृत्ति का दिग्दर्शन और उसका प्रदर्शन करने में बेहयाई की सीमा पार कर डाली गई है। उन लोगों से पूछिए जो यूरोप की महानगरियों के नाइटक्लबों और पानगृहों का चक्कर काट आए है। यह है समस्या का हल! आश्चर्य तो इस बात से होता है कि मानव इस दुर्बलता का औचित्य सिद्ध करने में बड़े बड़े सिद्धांतों की रचना बड़ी बुद्धिमानी के साथ करता है। इसे स्वाभाविकता का नाम प्रदान किया जाता है। गतिशीलता कहकर इसकी प्रशंसा की जाती है। यह आधुनिकता है, युगधर्म है जिसके विपरीत आवाज उठानेवाला दकियानूस और प्रतिगामी है।

आज साहित्य में भी इस प्रवृत्ति का उदय हो रहा है। यथार्थवाद और गति-

वाद के नाम से मानव की तुच्छ प्रवृत्तियों और दुर्बलताओं का औचित्य सिद्ध करना तथा उसे उत्तेजना प्रदान करना आधुनिक अंधमूढ़ता की पराकाष्ठा है। आखिर प्रगति है क्या ? प्रगति का मेरी दृष्टि में तो एक ही अर्थ हो सकता है। मनुष्य नामधारी प्राणी ने हजारो वर्ष पूर्व विकास की एक धारा पकड़ी। इस नए पथ के यात्री मानव के हृदय में अपने पूर्वजो के पशुभाव, पशुजीवन, पशुवासना, पशु-संस्कार भरे पड़े थे। तमाम स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और आकाक्षाएँ उसपर हावी थी। पर यदि उसने उनके संमुख सिर झुका दिया होता तो वह भी उसी दिशा में बह जाता जिधर उसके मूल स्रोत से निकली अन्य जंतुजाति बह गई। पर उसने कुछ दूसरा ही रास्ता पकड़ा था। उसने उन मौलिक भावों से युद्ध ठाना, पदपद पर उनका सामना किया। उसके लिये यह सभव न था और न है कि अपने मौलिक भावों का सर्वथा उन्मूलन कर दे, पर यह संभव अवश्य था और है कि उनका नियमन करे, उन्हे नियंत्रित करे, उनमें व्यवस्था उत्पन्न करे और यथासभव उनपर पवित्रता तथा गौरव का रंग चढ़ाए। प्रकृति ने उसे जो विवेक प्रदान किया था वह इस संघर्ष का मूल कारण था और वही नैसर्गिक चेतना इस संघर्ष के साथसाथ उत्तरोत्तर जाग्रत होती गई। इस महान् संघर्ष का ही परिणाम आज का मानव है। यह संघर्ष ही उसके जोवन की पुनीत और चरम साधना रही है। इस दिशा में एक एक कदम उसका आगे बढ़ाना ही प्रगति है। यह प्रगति ही उसके विकास और जीवन का मूल मंत्र है।

फलत: प्रगतिवाद का एक ही अर्थ हो सकता है। मानव मौलिक पशुप्रवृत्तियों के प्रभाव को यथासंभव कम करते हुए अपने उत्तमांश को जाग्रत करता चले और इस प्रकार महान् विकास के मार्ग का पथिक होकर एक दिन पूर्णता को प्राप्त करे। उसकी यह यात्रा ही प्रगतिवाद है। जिस साहित्य में जीवन की यह प्रवृत्ति परि-स्फुटित न हो, जो जीवन के इस आदर्श और सत्य का प्रतिनिधित्व न करे वह प्रगति-वाद नहीं दुर्गतिवाद है। शिश्न और उदर का प्राधान्य सदा जीवन में रहा है और रहेगा पर उसे ही सबकुछ मान लेना मानवविकास के पथ को कुंठित कर देना है। पर आज दुर्भाग्य से प्रगतिवाद के नामपर साहित्य में यह प्रवृत्ति भी उदीयमान होती दिखाई देती है। अपने हृदय की दुर्बलता, लालसा और भोगप्रवत्ति का नियमन करने के बजाय उसे उत्तेजना प्रदान करना और शब्दजालों के आवरण में उसे छिपाकर बड़ेबड़े सिद्धांतों की स्थापना करना मानवप्रगति के परम पाखंड का द्योतक है जिसकी गति का अवरोधन आवश्यक है। भारत के युवक और भारतीय युवतियाँ उच्छृंखलता की इस धारा से बचें, यह उनके मित्र के नाते मेरी छोटी सी सलाह है। काम की प्रवृत्ति उठती है तो उसे ग्रहण करो पर उसका जो स्थान जीवन मे है उतना ही उसे प्रदान करो। भौतिक भोग जीवन की एक आवश्यक चाह है पर इस चाह को अपनी सीमा से परे न जाने दो। नारी और नर के रूप का पारस्परिक आकर्षण और मोह मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है जिससे प्रभावित होना अनिवार्य है; पर यह प्रभाव भ्रष्टता और उच्छृंखलता की ओर न ले जाय। इन प्रवृत्तियों के साथसाथ विशिष्ट मानवजीवन ने जिस विवेक को जाग्रत किया है उसकी उपेक्षा न की जाय। नर और नारी जीवन के

दो तत्त्व है जो परस्पर मिल कर सारे व्यक्तित्व को परिपूर्ण और परितृप्त करें। केवल एकांश की पूर्ति के लिये परस्पर को यत्र बनाना मानवता का, जीवन का और नरत्व का तथा नारीत्व का अपमान करना है। आज के युवक और युवतियाँ अपने अतस्तल को टटोले, अंतर्मुख होकर तनिक अपनी समीक्षा करें। देखें कि जीवन मे आखिर उन्होंने कुछ आदर्शो की स्थापना की है या नहीं ? उन्होंने जीवन के मूल्य की माप और अंकन के लिये किन मापदंडों को स्थिर किया है। रंगबिरंगे सुदर परिधानो से सुसज्जित आकर्षक तितलियों की भाँति चपलता ग्रहणकर आज इस और कल उस युवक की कामवासना को उद्दीप्त करने में ही यदि उन्होंने अपने सारे सौदर्य और रूप की शक्ति लगा रखी है तो क्या यह नारीत्व की मर्यादा की रक्षा की जा रही है ? इसी प्रकार यदि युवक आज इस और कल उस युवती के पादपद्मों की पूजा में बैठना अपना पेशा बनाए हुए है तो क्या वह मानवता को असुंदर, गौरव-हीन और भ्रष्ट बनाने में ही जीवन को सार्थक नहीं समझ रहा है ?

भारतीय नारी को अपनी समीक्षा करके इसके ऊपर उठना होगा। आज जो स्थिति है उसके लिए यूरोप का एक प्रभावशील विचारक समुदाय स्वयं चिंतित है। जो प्रवाह है उसके सामने भारी प्रश्नात्मक चिह्न खड़ा हो गया है। यह प्रगति मानवसमाज और संस्कृति तथा कल्याण के मार्ग को प्रशस्त कर रही है अथवा कुंठित, यह भारी संदेह और प्रश्न गंभीर विचारकों और मनीषियों के संमुख है। जिसे उच्छृंखलता के वशीभूत होकर प्रतिगामिता का नाम प्रदान किया जाता है उसी दिशा मे सोचने और समझने तथा मनन करने का झुकाव विचारक मंडली में उत्पन्न होने लगा है। आधुनिक युवक और युवती के सामने जीवन की यह समस्या और मनुष्य होने का उत्तरदायित्व दोनो उपस्थित हैं। उन्ही में शक्ति है कि वे अंधमूढता से अपने को और समाज को वाहर निकालें, फिर यह चाहे आधु-निक मूढता हो या पुरातन। बस आज इससे अधिक कुछ और नही लिखना है। विचार करने के लिये और मार्गनिर्धारण मे सहायता प्रदान करने के लिये इतना काफी है।

तुम्हारा
बाबू

# १३

नैनी सेंट्रल जेल
ता०.........

प्रिय लालजी,

मानवजीवन में काम की प्रवत्ति की जो समस्या है उसके संबंध में मुझे जो कुछ कहना है वह अभी पूरा नहीं हुआ। यह विषय ही इतना गंभीर है कि चेष्टा करके भी मैं अभी तक जानने योग्य तमाम बातें सम्यक् रूप से न कह सका। पर जब यह चर्चा चल पड़ी है तो उसे अंत तक पहुँचाना भी आवश्यक है। आवश्यक इसलिये भी है कि वह जीवन की प्रमुख समस्या है जो यौवनारंभ में ही उग्र रूप में प्राणिमात्र के सामने उपस्थित होती है। मानव सृष्टि और जाति की धारा को स्थिरता प्रदान के लिये प्रकृति ने अपने विकास की योजना में ही मानवहृदय को ऐसे साँचे में ढाल दिया है कि पुरुष का स्त्री की ओर और स्त्री का पुरुष की ओर आकर्षण नितांत सहज और स्वाभाविक हो गया है। जो प्रवृत्ति जीवन के मूल में प्रकृति द्वारा अनिवार्य रूप से निहित कर दी गई हो उसकी उपेक्षा करने की सामर्थ्य भला किसमे है? प्राणिजगत् के विकास और उत्थान में इस मूल प्रेरणा और प्रवृत्ति ने खास हिस्सा लिया है, इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। पर जैसा कि पूर्व के पृष्ठो में कह चुका हूँ मनुष्य प्रकृति की विशेष कला और विभूति से संपन्न प्राणी है अतः उसका जीवन भी अपेक्षाकृत जटिल और उलझा हुआ है। अन्य प्राणियों की भाँति प्रजनन और पेट की महिमा उसके जीवन पर छाई हुई है पर अन्य जीवजंतुओं के लिये उसका स्वरूप जितना सरल है उतना मानव के लिये नही है। मानवता भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वित रूप है, फलतः मनुष्य के व्यक्तित्व में स्पष्टतः दो पहल हैं। अपने जीवन के इन दो भिन्न अंगों में से वह किसी एक की उपेक्षा करके अपने को न सुखी बना सकता है, न शांत, न पूर्ण और न जीवन का सम्यक् संचालन कर सकता है। अतएव चाहे कोई प्रश्न हो, कोई समस्या हो, कोई ग्रंथि हो, सबको उसे उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से देखना पड़ता है और देखना पड़ेगा। उसे उनको हल करने के लिये ये दोनों पहलू सामने रखकर उनका संतुलन और उनसे सामंजस्य स्थापित करना होगा। सफल जीवनसंचालन का यही एकमात्र उपाय है।

यह प्रयत्न अत्यंत कठोर और दुःसाध्य है इसमें संदेह नहीं, फिर भी मानव-जीवन को यही साधना है। मनुष्य का भी मनुष्य बनना साधारण काम नहीं है। मानव मानव हो जाय यही उसके अस्तित्व, विकास और जीवन का प्रयोजन तथा एकमात्र लक्ष्य है। यूरोप की नई सभ्यता और नव चेतना तथा ज्ञान ने जो

सबसे बड़ी त्रुटि दिखाई है, वह यही है कि उसने मनुष्य के जीवन के एक पहलू की ऐसी घोर उपेक्षा की है कि उसकी सारी सजीवता, स्फूर्ति, विचारशक्ति और वैज्ञानिक सफलता भी मनुष्य को मनुष्य बनाने मे सफल नही हो रही है। उसने मनुष्य को आकाश मे उड़ना अवश्य सिखा दिया और असीम महोदधियो का संतरण कर जाने की क्षमता भी अवश्य प्रदान कर दी पर इस धरातल पर रहना कैसे होता है, यह शिक्षा वह न दे सका। फलतः आज यूरोप की आग न केवल यूरोप की सभ्यता को बल्कि समस्त मानवजाति को जलाकर राख की ढेरी बनाया चाहती है। पश्चिम के तत्त्वदर्शियो के सामने यह प्रश्न नग्न रूप में उपस्थित हो गया है कि पश्चिमी सिद्धात, सामाजिक जीवन और उसका वैज्ञानिक ज्ञान तथा आर्थिक और राजनीतिक संघटन, इस शताब्दि मे ही लुप्त हो जायगा अथवा उसके बचाव की भी कोई आशा की जा सकती है? अपने समस्त ज्ञान, शक्ति, कलाकौशल, समृद्धि और ऐश्वर्य को लिए हुए यूरोप इस भयावने ज्वालामुखी के शिखर पर अपने को पहुँचा पा रहा है जिसके विस्फोट की ज्वाला में भस्मसात् होना अवश्यंभावी हो गया है। यह परिणाम है उस भूल का जो यूरोप ने जीवन को ठीक ठीक न समझने के कारण की है। उसने वास्तविक तथ्य को पूर्णरूप से देखा ही नही। उसने यह नही समझा कि जीवन केवल भौतिक नही है और न केवल भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेना काफी है। जीवन और सभ्यता की पूर्णता के लिये बाह्य प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करना यदि आवश्यक है तो उससे भी कही अधिक आवश्यक आंतरिक प्राकृतिक प्रवृत्तियों और शक्तियों पर विजय प्राप्त करना है, इस मौलिक सत्य का साक्षात्कार यूरोप नही कर सका।

जब सामूहिक रूप से सारे जीवन को उसने इसी दृष्टि से देखा तो फिर नर, नारी और काम की प्रवृत्ति को भी क्यों न देखता? कामप्रवृत्ति उच्छृंखल होकर और विशुद्ध भौतिक रंग से अपने को रँगकर जीवन का सत्यानाश कर सकती है, अतृप्ति और भोग की बुभुक्षा भी प्रज्वलित कर सकती है तथा समाज में हाहाकार मचाकर नर और नारी की विशिष्टता, तथा मर्यादा को धूल में मिला सकती है। जो प्रवृत्ति जीवन मे पूर्णता प्रदान कर सकती है और उसे अनंत रस, शांति और सुख की लहरों में लहरा सकती है, उसका दुरुपयोग अंधे होकर करना मानवता के पथ को कुंठित कर रहा है, यह अनुभव यूरोप को नही हुआ। आज विचारों की यह धारा और जीवन का यह ढंग इस देश को भी प्रवाहित कर रहा है। इस खतरे से तुम जैसे नवयुवकों को सावधान करने के लिये ही मैंने इतना लिखा है। पर मैं केवल निषेध मार्ग का ही अवलंबन करना नही चाहता। यूरोप का दृष्टिकोण अनुचित, एकांगी तथा मिथ्या ज्ञान से उद्भूत हुआ है, यह बता देना सरल है पर प्रश्न रह जाता है कि अंततः मनुष्य इस संबंध में कौन सा मार्ग ग्रहण करे और जीवन के प्रति किस दृष्टिकोण का अवलंबन करे। मैं यदि एक शब्द में इसका उत्तर देना चाहूँ तो यह कहकर दे सकता हूँ कि मानव मानवीय मार्ग ग्रहण करे और मानवीय दृष्टिकोण से जीवन को देखे। मानवजीवन जिन विशिष्टताओं, विशेष प्रवृत्तियो और विशेष गुणो को लेकर मानव हुआ है, उन सबके अनुकूल तथा उनकी सर्वांगीण अनुभूति के आधार पर आश्रित जीवन ही मानवीय कहा जा सकता

है। मानव की उन विशेषताओं पर विचार करते हुए अपनी इस एकांत कोठरी में मैं अतीत के न जाने कितने विशद और असीम अंचल का दर्शन करने लगा हूँ। मैं सोचने लगता हूँ कि आँखों के सामने सृष्टि का जो विस्तार विश्व के रूप में फैला हुआ है उसमें विचरण करनेवाले मानव नामधारी प्राणी की कहानी कितनी विचित्रता से भरी हुई है। इस कहानी का आरंभ हुए न जाने कितनी सहस्राब्दियाँ बीत गईं। सुनता हूँ और विद्वानों की लिखी पुस्तकों में पढ़ता हूँ कि इस भूमंडल का, जिसमें मानव का निवास है, जन्म हुए दो अरब वर्ष बीत चुके हैं। तबसे यह पृथ्वी आज तक बिना रुके हुए निश्चित मार्ग पर निश्चित गति से सूर्य की परिक्रमा करती चलती जा रही है। यह भी सुनता हूँ कि इस दुनिया में एक समय ऐसा था जब कोई भी प्राणी नहीं था। उस समय यह गोला, निर्जीव और प्राणहीन होते हुए भी अपना काम करता जा रहा था। पर इन दो अरब वर्षों के भीतर इस पृथ्वी का स्वरूप न जाने कितनी बार बदल चुका। समय आया होगा जब धरातल प्राण के संचार के योग्य हुआ होगा। फिर तो उसके गर्भ से न जाने कितने असंख्य जीवजंतु उत्पन्न हुए होंगे और विनष्ट हो गए होंगे। इन जीवों की न जाने कितनी जातियाँ पैदा हुई जिनका अब पता भी नहीं है क्योंकि वे धरती से ही लुप्त हो गई। न जाने कितने प्रकार के प्राणियों की हड्डियाँ अबतक पहाड़ों की हिमावृत चोटियों पर अथवा पृथ्वी के उदर में न जाने कितने पर्त नीचे तथा समुद्रों के अंधकाराच्छादित तल में मिलती हैं। वे हड्डियाँ ऐसे जंतुओं की हैं जिनका किसी युग में पृथ्वी पर आतंक रहा होगा पर आज उनकी जाति की जाति का नामनिशान भी मिट गया है। वे कभी थे इसका पता भी उनके अवशिष्ट कंकाल से ही लगता है। जो नष्ट हुए उनके स्थान पर दूसरे जीवजंतुओं ने जन्म लिया जिनमें से भी कुछ नष्ट होते जा रहे हैं और उनका स्थान कुछ नए लेते जा रहे हैं। सृष्टिविकास का यह क्रम न जाने किस अतीत काल से चला आ रहा है और कदाचित् इसी प्रकार न जाने कबतक चलता जायगा। विकास के इसी क्रम में एक समय ऐसा आया जब स्तनपाई जंतुओं की सष्टि हुई। मनुष्य भी इन्हीं स्तनपाई जंतुओं की जाति का एक प्राणी है। पृथ्वी पर प्रथम मनुष्य कैसा रहा होगा, इसकी कल्पना करना भी कठिन है।

पृथ्वी के विभिन्न स्थानों में चट्टानों के नीचे ऐसे प्राणियों के कुछ अस्थिपंजर मिले हैं जिनके अध्ययन से पंडित लोग तत्कालीन मानव की कल्पना करते हैं। इन अस्थिपंजरों में आज के मनुष्य के शरीर की रचना का बीज उपस्थित मिलता है। अफ्रिका की कुछ चट्टानों मे, भारत के शिवालिक पहाड़ पर, फ्रांस, हंगरी और जावा में ऐसी ठठरियाँ मिली है जिनके शरीर की बनावट में मानवशरीर के ढाँचे की झलक दिखाई देती है। पर आज के मनुष्य की विशेषताओं की धुंधली छाया दूर से भी उस पर पड़ी दिखाई नही देती। जिस किसी प्राणी का वह कंकाल हो उसे मनुष्य का नाम देना तो दूर रहा, उसमें उसका स्पर्श भी नही है। आज के वैज्ञानिक विद्वान् जिज्ञासा और सत्य के शोध की उत्सुकता में कल्पना करते हैं कि शायद इसी प्राणी ने दो मार्ग पकड़े होंगे। उसकी एक धारा का झुकाव पशुत्व की ओर हुआ होगा जो कदाचित् तरह तरह के बानरों की जाति में परिणत हो गई होगी और

दूसरी धारा जिस पर विकास के प्रकाश का आलोक झलक उठा होगा, दूसरी गति में बह चली। संभवतः विकास की इस धारा को पकड़नेवाले ही मानव हो चले। मालूम नहीं यह कल्पना सही है अथवा मानव की रचना किसी चिन्मय विश्वात्मा की अनत चेतना और उसकी लीला की अभिव्यक्ति के रूप मे सीधे सीधे हुई है। पर मानव की उत्पत्ति के संबंध मे सत्य चाहे जो हो इतना तो निश्चित ही है कि विकास की धारा ने सबसे उत्तम और महान् जिस प्राणी को बनाया है वह है मनुष्य। इस मनुष्य ने न जाने कितनी आफतो और कितने संकटों को सहते हुए, तूफान, अँधड़ों और प्राकृतिक कठिनाइयो को झेलते हुए, खूँखार जीवजंतुओं से अपने को बचाते हुए, तरह तरह की प्राकृतिक और सामाजिक उथलपुथल का सामना करते हुए अपने को आज उस स्थान पर पहुँचाया है जहाँ वह प्रतिष्ठित है। विचार करता हूँ तो मानव की महायात्रा पर अभिभूत हो जाता हूँ। आदि मानव की कठिनाइयो की कल्पना तो करो। भयानक आँधी, तूफान, प्रचंड बरसात और हिमपात, भूकपन और विस्फोट का सामना करना पड़ा होगा। उसके चारों ओर भयानक जीवजंतुओं का साम्राज्य रहा होगा। जल में, थल में, आकाश में, और पर्वत तथा जंगलो में कैसे कैसे भयानक जंतु रहते रहे होंगे। इन सबसे उसे अपनी रक्षा करनी पड़ी होगी। पेड़ों पर और वनपर्वत की गुफाओं में लाखो रात और लाखों दिन उसे काटने पड़े होंगे।

पर इन तमाम कठिनाइयों और परिस्थितियों का सामना करते हुए मानवजाति आगे बढ़ती चली गई है। अतीत के किसी सुदूर युग में विकास की जो धारा उसने पकड़ी थी वह उसे उत्तरोत्तर पशुता से दूर किसी ऊँचे स्तर की ओर लिए चली गई है। एक के बाद दूसरे प्रकृति के अनंत पटों को उलटते हुए और उसके रहस्य को देखते हुए मानव आज भी आगे की ओर गतिशील है। कल्पना करो कि विकास की यह महती यात्रा कितनी आश्चर्यमय है? पर इस यात्रा का कुछ प्रयोजन भी रहा है अथवा प्रकृति ने मनुष्य को विकास का पथिक बनने के लिये निष्प्रयोजन ही उत्प्रेरित किया है? यह प्रश्न ही जीवन के रहस्य को उद्घाटित करता है। स्पष्ट है कि विकास की इस गति में ही उसका प्रयोजन दिखाई देता है। मालूम होता है कि प्रकृति ने जीवन की सृष्टि इसीलिये की है कि वह पदे पदे विकसित होता चले, उन्नत होता जाय और आगे की ओर गतिशील रहे। एक दिन इस गति के फलस्वरूप वह पूर्णता, विकास की पूर्णता, जीवन की पूर्णता प्राप्त करे। इस सत्य का आभास विकास की गति के इतिहास में ही झलक जाता है। हम स्पष्ट देख रहे है कि जीवन और उसकी रक्षा के संघर्ष का उद्देश्य है विकास, उन्नत पथाभिगमन जो प्रकृति को वांछनीय है और जो उसका अटूट नियम है। इसी महती उत्प्रेरणा के वशीभूत होकर किसी काल में किसी प्राणी ने मानवता की ओर कदम उठाया। उसने जीवन के प्रति, आचार और रहनसहन के प्रति, आचरण और विचार के प्रति नया मानवीय दृष्टिकोण पकड़ा। प्रकृति ने इस प्राणी को अन्य जंतुओं की भाँति सहज प्रवृत्तियाँ तो प्रदान की ही थीं पर इसके साथसाथ उसे अभिनव चेतना, अभूतपूर्व विवेक और विचार की शक्ति भी प्रदान की थी। उसकी यह विशिष्टता उसी प्रकार उसका स्वाभाविक, सहज और सजात गुण है जिस प्रकार उसकी प्रवृत्तियाँ।

इन तमाम विशेषताओं को लिए हुए मानव ने अपनी यात्रा आरंभ की थी। इस कठोर साधना में उसे तरह तरह के अनुभव हुए, तरह तरह की आवश्यकताएँ प्रतीत हुई और तरह तरह के साधनों को ग्रहण करना पड़ा। अपने अनुभवों और अपनी आवश्यकता के अनुसार जीवन में उसे नए नए प्रयोग करने पड़े। इन प्रयोगों के फलस्वरूप उसे नई अनुभूतियाँ और नया ज्ञान प्राप्त होता गया। स्मरण रखने की बात है कि मानवजीवन की साधना थी अपने मूल पशुभाव, पशुसंस्कार तथा पशुजीवन से ऊँचे उठकर मानवता की ओर बढ़ना। उसकी इस प्रगति के संघर्ष में तरह तरह की परिस्थितियाँ सामने उपस्थित होती रहीं। आखिर सामूहिक रूप से जगत् भी तो विकासशील ही है। जो विकासशील होगा उसमें गति होगी और जिसमे गति होगी उसमें होता रहेगा परिवर्तन। परिवर्तित स्थिति के अनुकूल आवश्यकताएँ भी परिवर्तित होती रहेंगी। फलतः नए नए प्रयोग करने पड़ेंगे और उसी से नई अनुभूतियाँ प्राप्त होंगी। जीवन को मानवता की ओर ले जाने में जो बातें सहायक हुई वे ग्राह्य हुई और जो निकम्मी तथा निरुपयोगी दिखाई दी वे तिरस्कृत और त्याज्य हुई। इन हजारों वर्षों के संस्कार, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात और अनुभूतियों का परिणाम आज का मानव है। इनके फलस्वरूप समय समय पर उसे जो ज्ञान हुआ, जीवन के जो सत्य दिखाई दिए, उनका जो जो आदर्श फल था उनके आधार पर उसने जीवन के संचालन के नियम बनाए, आचारों को जन्म दिया, समाज के संघटन की व्यवस्था बनाई, संस्थाओं और परंपराओं का निर्माण किया, रहनसहन का ढंग पकड़ा। युग युग का उसका यह प्रयत्न और उसकी यह प्रक्रिया ही संस्कृति के रूप में मूर्तमान होकर मानवसमाज के इतिहास में प्रकट होती है।

फलतः स्पष्ट है कि विकास की ओर जीवन की गति की मूल प्रेरणा है पशुभाव छोड़कर किसी उन्नत मानवीय स्तर की ओर बढ़ाव। इसी के लिये मनुष्य ने अबतक संघर्ष किया है। प्रवृत्तिमूलक उसके इस संघर्ष में उसका साधन और उसका शस्त्र उसकी विवेकमूलक चेष्टा रही है। यही है आधार जिस पर भव्य सांस्कृतिक भवन निर्मित हुआ है। प्रवृत्तियों की चपेट में पड़कर भी मनुष्य अपने विवेक को नहीं भूल सकता। यही मानवता का विशिष्ट गुण है। जंतु को प्यास सताती है और वह झट से पानी पीने लगता है। उसके लिये यह प्रश्न ही नहीं है कि जो जल वह ग्रहण कर रहा है वह पेय है अथवा नहीं। यदि पनाले में पानी बह रहा हो तो पशु उसे बिना किसी संकोच के ग्रहण कर लेगा। उसे केवल दो बातों का ज्ञान है। प्यास की अनुभूति और उसकी तृप्ति के लिये जल का साधन। उसके जीवन की समस्या इतने से ही हल हो जाती है। मानव को भी जल की पिपासा पशु की भाँति ही सताती है पर उसके सामने केवल जल का प्रश्न नही है। उसे यह भी देखना है कि जो जल वह पीने जा रहा है वह ग्राह्य और पेय है अथवा नही। पनाले का पानी वह न ग्रहण करेगा चाहे घंटों पिपासा से आकुल होना पड़े। यही मानवीय दृष्टिकोण है और यही है उसका गुण। इस गुण का परित्याग करना मानवता से नीचे गिरना है यह स्पष्ट हैं कि मनुष्य के स्वभाव में आदि प्रवृत्तियाँ भरी पड़ी हैं। उसमें लालसा है, वासना है, और इंद्रियों तथा हृदय की भौतिक भोगलिप्सा है।

प्रकृति प्रदत्त इन उपादानो से मनुष्य सर्वथा निर्मुक्त हो जाय अथवा इनका समूल उन्मूलन कर सके यह संभव नही है। मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो यह मानते है कि इनके संपूर्ण दमन में ही जीवन की सार्थकता है। मैं इस पथ को भ्रांत तथा अस्वाभाविक समझता हूँ, जो जीवन को अधिक क्षुब्ध और दुखानुशायी बनाए बिना न छोड़ेगा। पर जहाँ इनका अस्तित्व मिटा देना अस्वाभाविक हैं वही उन्हें उच्छृंखल होकर नाचने देना स्पष्टतः मनुष्य के लिये अस्वाभाविक है। आँखें मूदकर प्रवृत्तियों की पूर्ति, वासनाओ की तृप्ति अमानवीय है जो उसके सहज गुण विवेक की सत्ता को मिटा देता है। अनावश्यक उस विभूति का सहार करना जिसे प्रकृति ने प्रदान किया है सदा के लिये जीवन और समाज को पथभ्रष्ट कर देना है।

पर वासनाओ का अभाव भले ही न किया जा सके, मनुष्य का विवेक उनका संतुलन करने में निस्सदेह समर्थ है। उसकी यही उपयोगिता है कि वह पशुता और मानवता में सामंजस्य स्थापित करे। प्रवृत्तियो के खेल को सीमाबद्ध करना और उन पर नियंत्रण तथा अनुशासन स्थापित करना उसकी पुनीत साधना रही है। इस सनुलन के द्वारा वह आदि प्रवृत्ति का दमन नहीं करता पर जीवन में सामंजस्य स्थापित करके उसे अधिक सुंदर, सत्य के अधिक निकट और अधिक कल्याणमय तथा आनंदप्रद अवश्य बना देता है। जो आचरण, जो ढंग, जीवन को अधिक सुंदर, सत्य के अधिक निकट और सुखप्रद तथा कल्याणमय बना सके वही नैतिक है और जो विपरीत दिशा में जाय वही है अनैतिक। जीवन के मूल्य को आँकने की कसौटी यही है क्योंकि यही उसके विकास के पथ को प्रशस्त करती है। प्रवत्तियों को सीमाबद्ध करना मनुष्य की सतत चेष्टा रही है। यही चेष्टा सभ्यता की जननी है। कोई कारण नही है कि नरनारी के कामसंबंध और मानव की कामप्रवृत्ति के विषय में भी यह नियम लागू न किया जाय। विवेक को छोड़कर यदि मनुष्य इस प्रवत्ति को मनमाना रास रचने दे तो फिर उसके लिये स्वेच्छाचारी बन जाने के सिवा और कौन सा मार्ग रह जायगा? असंयत, विवेकहीन और स्वच्छंद जीवन यदि मानवता के आचरण का उत्प्रेरक तत्व हो जाय तो फिर स्वार्थसाधन के लिये राक्षस की भाँति समाज को उद्ध्वस्त करने में भी वह संकोच क्यो करेगा?

फिर समाज के सिवा वह मानवव्यक्तित्व को भी नष्ट कर देगा। जो प्राणी प्रवृत्तियों का अश्रयस्थल होते हुए भी कोमल भावों तथा पुनीत और कलामयी कल्पनाओं का अधिकारी है, जिसमें अनुभूति है, जो सृष्टि के मूल मे निहित सत्य और सौदर्य की मोहिनी झलक प्रकृति के अनंत विस्तार में पा लेता है वह यदि अपने चेतनांश की निर्दय अवहेलना करके अर्धांश को ही पकड़ता है तो उसकी विभूति और ऐश्वर्य कहाँ रहा! फलतः दोनों का समन्वय करना ही है और संयम ही उस समन्वय का प्रतीक है। आज की दुनियाँ मे विचारको का एक समूह है जो इस संयम की प्रवृत्ति को अप्राकृतिक और अनावश्यक समझता है। पर आज इस विचार की जड़ हिल गई है। प्राणिजगत् के विद्वानो मे ऐसे लोग है जो अपनी खोज और अध्ययन के आधार पर बिलकुल इसके विपरीत परिणाम पर पहुँचे हैं। उनका कहना है कि संयम की प्रवृत्ति उन आदिम मनुष्यों में भी पाई जाती है जिन्हें हम बर्बर कहते है। इस धारणा को कि संयम का उद्भव उस समय हुआ जब मनुष्य

ने सभ्यता अपनाई; वे भ्रांत और निर्मूल समझने हैं। प्राय: सभी आदिम मनुष्य-समाजों में नरनारी का कामसंबंध जटिल बंधनों मे आबद्ध पाया जाता है और उनमें अनियत्रण का तो अभाव ही दीखता है। जो पुरुष जब चाहे जिस स्त्री से संबंध कर ले, यह स्थिति उनमें नहो के बराबर है। यह हालत आदिम मानव जातियों तक ही परिमित नही है। पशुसमाज का अध्ययन करनेवाले अनेक प्रामाणिक विद्वान् बताते है कि पशुओं में काम प्रवृत्ति और नरमादा के संबंध में संयम नहीं होता, यह विचार भी निराधार है। साधारणत: पशुओं में देखा गया है कि जो प्राणी सामाजिक है, समूहों में रहते हैं उनमें कामसंबंध नियंत्रित पाया जाता है। बहुधा यह प्रतीत होता है कि सामाजिक प्रवृत्ति बढ़ने पर क्रमश: नरमादा का संबध नियमित होता जाता है। वे तो कहते है कि सामाजिकता की ओर प्रगति का पहला कदम नियंत्रण की यह प्रवृत्ति ही होती है। पशुजीवन में एक मादा का बहु पुरुषों से संबंध कम ही पाया जाता है। बहुत से पशु और पक्षी भी ऐसे है जो एक बार जोड़ा बना लेने पर जीवनपर्यंत अपना संबंध बनाए रहते है? जैसे जैसे सामाजिक प्रवृत्ति बढ़ती है वैसे वैसे कामसबंध को स्थायी बनाने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है।

बंदरों की अधिकतर जातियों में तो यह स्थायित्व विशेष रूप से पाया जाता है। गोरिल्ला और शिपाजो आदि बड़े बंदर दल में रहते हैं। मादा, नर और उसके बच्चे मिलाकर उनके परिवार होते हैं। वे जोड़े अक्सर प्राण रहते एक दूसरे को नही छोड़ते। इनमे परस्पर आसक्ति देखी जाती है। यहाँ तक देखा गया है कि यदि इन जोड़ों को परस्पर अलग कर दिया जाय और यदि महीनो अलग रखने के बाद छोड़ दिया जाय तो वे फिर एक दूसरे को ढूँढकर मिल जाते है। जंगली खरगोशों में एकपत्नीव्रत दिखाई देता है। पक्षियों में तोते, कबूतर, जंगली बत्तक एक जोड़ा बना लेते हैं तो जीवन पर्यंत नहीं टूटता। पशुजीवन का यह अध्ययन मानवप्रकृति के रहस्य पर प्रकाश डालता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है अत: संयम की प्रवृत्ति प्रकृति प्रदत्त है। उसे अस्वाभाविक कहना अपने अज्ञान का परिचय देना है। विशद्ध भौतिकता से जिनकी दृष्टि मलीन हो गई है और जो जीवन को एक ही संकुचित दृष्टिकोण से देखते है वे मानवजीवन के इस पहलू पर नजर ही नहीं डाल पाते। उनकी दृष्टि मे जीवन का सारा क्लेश और जगत् का सारा असंतोष और उसकी समस्या कामप्रवृत्ति के संयम और नियमन से ही उद्भूत हुई है। मैं समझता हूँ कि मानवस्वभाव और उसके मूलस्वरूप के संबंध में उनका ज्ञान अधूरा है।

भारत के उन प्राचीन विचारकों ने, जिन्होंने जीवन में संयम की स्थापना की ओर मनुष्य का ध्यान आकृष्ट किया संभवत: मानव प्रकृति के मौलिक स्वरूप को और उसकी पेचीदगी को अपेक्षाकृत अधिक समझते थे। भोगों का संपूर्ण त्याग जितना अस्वाभाविक और असंभव है इनका उच्छृंखल उपयोग भी उतना ही अधिक अमानवीय और अनर्थकर है। इन दोनों के बीच का मार्ग संयम का मार्ग है, जो स्वाभाविक भी है और मानवीय भी। इस सुवर्ण पथ की ओर संकेत करके उन्होंने मनुष्य के जीवन की इस समस्या को हल करने का उचित उपाय और उसकी प्रकृति के संबंध में अपने वास्तविक ज्ञान का परिचय दिया है। भोगों की परितृप्ति और वासनाओं का शमन आँखें मूदकर उपभोग करने से नहीं हो सकता। केवल

भोग तो भोग की लिप्सा की आग में घृत डालने का ही काम करेगा जो जीवन को सदा जलाता रहेगा। वासनाओं की तृप्ति केवल बहिर्मुख होने से नहीं हो सकती क्योंकि तृप्ति और अतृप्ति का संबंध कुछ भीतर से भी है। अतः विवेकपूर्ण उपभोग और प्रवृत्तियो की सीमाबद्धता ही धीरे धीरे उसकी चेतना को जाग्रत करेगी जो एक दिन जीवन में उस कला, पवित्रता, सत्य और सौदर्य की अनुभूति करेगी जिसकी ओर मानवविकास की धारा उत्प्रेरित है। जीवन एक कला ही है पर कला का ही दूसरा नाम व्यवस्था है। व्यवस्था में ही कला की अभिव्यक्ति होती है। स्वर-लहरी जब व्यवस्थित होकर प्रवाहित होती है तब वह संगीत के, कला के रूप मे प्रकट होती है। पर बड़े बड़े गायक भी अव्यवस्थित ढंग से गाना आरंभ कर दें तो वह संगीत नही कर्णकटु होहल्ला का ही एक रूप होगा। व्यवस्था ही किसी मोहक भवन को कला का रूप प्रदान करती है अन्यथा वह ईट और पत्थरों के ढूह के सिवा कुछ दूसरा न रहेगा। जीवन भी यदि कला है तो उसमे व्यवस्था होनी चाहिए। यदि उसमे कला नही है तो मानवशरीर हाड़ मांस के घृणित लोथड़े के सिवा और कुछ नही है। आज मैं विचारो की शृंखला को यही तोड़ता हूँ और इन पंक्तियो को यहीं समाप्त करता हूँ। विश्वास करता हूँ कि इन वाक्यो से तुम्हारे विचार सजग हो उठेंगे। तब से कुछ और लिए हुए मैं उपस्थित हो जाऊँगा।

तुम्हारा
**बाबू**

——:o:——

# १४

नैनी सेंट्रल जेल
ता०............

प्रिय लालजी !

संयम मनुष्य की उस चेष्टा का नाम है जिसके द्वारा वह अपनी प्रवृत्तियों को अधिकाधिक परिष्कृत, पुनीत, कलामय और नियंत्रित करने के लिये अति आरंभिक काल से यत्न करता आया है। मानवसमाज के इतिहास पर यों ही उड़ती हुई दृष्टि डालने पर भी इन मोटे सत्य का आभास सरलता से मिल जाता है। मानवता के विकास में एक समय रहा होगा जब आरंभिक मनुष्य कच्चा मांस खाता रहा होगा, शायद इधर उधर घूमता फिरता रहा होगा और गुफाओं में या वृक्षों की डालियों पर सोकर और बैठकर अपना जीवन बिताता रहा होगा। पत्थरों से उसने अपने अस्त्रशस्त्र बनाये होंगे क्योंकि उसे धातुओं का ज्ञान उस समय नहीं हुआ था। उन्हीं आयुधों से उसने अपने शत्रुओं से अपनी प्राणरक्षा की होगी और उन्हीं का उपयोग पशुओं का शिकार करने में किया होगा जिनका मांस खाकर उसने अपनी उदरपूर्ति की होगी। उस अतिआरंभिक युग में भी काम की वासना उसे सताती रही होगी, क्योंकि मानवजाति के जीवन की दीपशिखा को जलाए रखने के लिये प्रकृति ने उसमें नरनारी के संयोग की इच्छा भर दी थी। निस्संदेह उस समय काम-प्रवृत्ति की पूर्ति के लिये आरंभिक काल से स्त्रीपुरुष परस्पर मिल जाते रहे होंगे। शायद उनका संमिलन कुछ उसी प्रकार का होता रहा होगा जिस प्रकार पशुओं में होता है। न विशेष बंधन रहा होगा, न इस प्रवृत्ति को चरितार्थ करने पर किसी प्रकार का आवरण ! वह अवस्था विशुद्ध संकरता की रही होगी। पर समय आया होगा जब इस स्थिति में परिवर्तन होने लगा होगा। न जाने कितनी बातों का प्रभाव मनुष्य पर पड़ा होगा।

तत्कालीन मानव में सामाजिकता की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई होगी। उसने अनुभव किया होगा कि शत्रुओं तथा जीवजंतुओं के आक्रमण से बचने के लिये अकेले घूमते फिरते रहने की अपेक्षा समूहों में रहना अधिक उपयोगी तथा हितकर है। फिर उसकी अपनी आर्थिक समस्याएँ भी उत्पन्न हुई होंगी। उसे अग्नि का पता चला होगा। मांस को भूनकर खाने में और फलमूल एकत्र करके उसे भोज्य बनाने में उसे अधिक रस का भान हुआ होगा। जीवनोपयोगी भोज्य सामग्रियों की प्राप्ति में उसने श्रमविभाग की आवश्यकता प्रतीत की होगी। पुरुष शिकार करके और फलमूल बटोरकर लावें, स्त्रियाँ उन्हें आग में भूनें, समूह में जो बच्चे हैं उनकी रक्षा और प्रतिपालन करें, इसकी आवश्यकता मालूम हुई होगी। फिर और समय बीता होगा जब मनुष्य को पशुओं के पालन की युक्ति सूझी होगी। समूह के समूह

अपने डंगरों को लिए दिए चरागाहों की खोज में इधर उधर घूमते रहे होंगे। वे इन पशुओं का मांस खाते थे और उन्हीं के चमड़े पहनकर सर्दी गर्मी से अपनी रक्षा करते रहे होंगे। इनके समूहों में स्त्री, पुरुष, बच्चे सब संमिलित रहे होंगे। आदि मानव को अपने समाज के इस स्तर तक पहुँचने में न जाने कितनी सहस्राब्दियाँ बीत गई होंगी। स्पष्ट है कि इस कला में स्त्री पुरुष के संबंध की मूल प्रेरणा काम की प्रवृत्ति ही रही होगी। कामसंबंध में संभवतः न कोई स्थायित्व रहा होगा और न व्यवस्था। संकरता की स्थिति पूरी तरह वर्तमान रही होगी। परिवार रहे नहीं होंगे, यद्यपि समूह के समूह एक ही परिवार की भाँति रहते थे। बच्चों का पिता कौन है इसका कोई पता न रहा होगा क्योंकि अबतक पितृमूलक परिवार का उदय नहीं हुआ था।

बहुत सी बर्बर तथा आदिम मानव जातियों में अब तक कुछ ऐसी ही स्थिति वर्तमान है। यह सच है कि कामसंबंध में उनमें भी किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण देखा जाता है पर उस प्रकार के बंधन और नियम नहीं होते जैसे सभ्य जातियों में मिलते है। बर्बर जातियो के जीवन का अध्ययन करनेवाले कहते हैं कि कुछ में तो यह प्रथा है कि एक समूह के स्त्रीपुरुषों में आपस में कामसंबंध होता ही नहीं। एक समूह के स्त्रीपुरुष साथ साथ किसी पर्वत की उपत्यका में अथवा नदी के तट पर बसे रहते है और वैसा ही दूसरा समूह दूसरी ओर बसा रहता है। वर्ष के एक निश्चित समय में ये समूह परस्पर मिलते है। एक समूह का पुरुष दूसरे समूह की स्त्री से और दूसरे समह का पुरुष पहले समूह की स्त्री से मिल जाते हैं। इस मिलन के लिये वे उत्सव रचते है जिसमें स्वच्छंदतापूर्वक दोनों समुदायों के स्त्री पुरुष आते हैं और नाचते, गाते तथा आनंद मनाते हैं। इसी समय उनका संबंध हो जाता है: ये उत्सव कुछ सप्ताह तक चलते है जिसकी समाप्ति के बाद दोनों समुदाय पुनः अलग हो जाते हैं। फिर इनका संमिलन तबतक नही हो सकता जबतक उत्सव का वही समय न आवे। इस बीच यदि कोई स्त्रीपुरुष परस्पर संबंध करता मिले तो उसे कड़ा दंड दिया जाता है। इसी प्रकार स्त्रियाँ गर्भ धारण करती हैं। जो बच्चे होते हैं उनकी माता का पता तो स्वाभाविक है पर पिता अज्ञात रहता है। सारे बच्चे समुदाय की ही संपत्ति होते है।

कुछ जातियों में एक ही समुदाय के स्त्रीपुरुषों में भी संबंध होता है पर उसमें भी कड़ा नियंत्रण दिखाई देता है। इन समूहों में सब स्त्रियाँ अलग रहती हैं और सारे पुरुष अलग। जब तक निर्धारित समय न आवे तब तक स्त्री पुरुष न मिलते हैं और न यौनसंबंध करते हैं। वर्ष के किसी समय यह संमिलन उत्सवों आदि के रूप में होता है और जबतक होता है तबतक यह संबंध भी चलता है। उसकी समाप्ति के साथ साथ उनका कामसंबंध भी समाप्त हो जाता है। स्त्रियों और बच्चों को एक साथ रखते हैं, जो पुरुषों से अलग रहते है, फिर भी उनकी रक्षा और भरण-पोषण का उत्तरदायित्व समान रूप से सारे समुदाय पर होता है। फलतः स्त्रीपुरुष जब जिससे चाहें मिलें और कामसंबंध स्थापित करें। यह न होते हुए भी इन जातियों में नरनारी का संयोग एक साथ कामप्रवृत्ति की प्रेरणा के ही वशीभूत होकर ही होता है। आदि मानव की कुछ ऐसी ही गति रही होगी। संभवतः

किसी काल में पृथ्वी के जिस किसी भाग में मनुष्य रहता था वहाँ कुछ इसी प्रकार की प्रणालियाँ रही होंगी और मानव की जाति संकटावस्था में थी तथा उसकी कामलीला पशुओं की सरल कामचेष्टा की स्थिति में होती थी। भारत के आर्यों का वैदिक साहित्य संसार के पुरातन साहित्य में अग्रणी है। वैदिक आर्य वैदिक युग में आदि मानव की स्थिति से कहीं आगे बढ़ गए थे। वे केवल शिकारी और पशुपालक नहीं बल्कि स्थिर समाज के निर्माता और महती संस्कृति के प्रवर्तक थे। पर वैदिक आर्यों को किसी आदि काल की स्मृति भूली न थी। वे जानते थे कि एक समय मानव समाज की यह स्थिति थी जिसका उल्लेख वेदों में भी मिलता है।

वेदों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि किसी युग में स्त्रियाँ 'अनावृत' रहती थीं और समय पाकर उनका अनावरण हटाया गया। दीर्घतमा ऋषि तथा श्वेतकेतु और औद्दालिक की कथाएँ उपनिषदों तथा पुराणों में हैं, जिनमें यह संकेत मिलता है कि इन ऋषियों ने विवाह की संस्था को जन्म दिया, उसके नियम बनाये और उनका विकास किया। स्पष्ट है कि मानवजाति एक युग में प्रायः पशु सा व्यवहार करती थी, पर उसकी चेतना, उसके विवेक और उसके अनुभव तथा उसकी परिस्थितियों ने उसे अपनी आरंभिक प्रवृत्तियों को परिष्कृत और सुसंस्कृत करने की ओर प्रेरित किया। भारत में ही नहीं बल्कि संसार भर में विवाह की संस्था के जन्म में मूल प्रेरणा यही रही है। मैं जानता हूँ कि विवाहपद्धति के उदय में और बातें भी कारण हुई हैं। मनुष्य के आर्थिक उत्पादन के प्रकारों ने समाज की रचना पर बड़ा प्रभाव डाला है। समय आया है जब व्यक्तिगत संपत्ति का उदय हुआ है, जब समाज को स्थायी बनाने की आवश्यकता हुई है और जब इसके लिये परिवारों और कुटुंबों की इकाइयाँ उद्भूत हुईं। इन परिस्थितियों ने अपने भी वैवाहिक संबंध और पद्धति की आवश्यकता की अनुभूति करायी। पर जहाँ ये कारण थे वहाँ मुख्य कारण मनुष्य की वह मौलिक तथा नैसर्गिक प्रेरणा भी थी जो सदा आदि प्रवृत्तियों को अधिक उन्नत और सुंदर तथा गौरवपूर्ण बनाने के लिये सचेष्ट रही है। भारत में तो इस प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आज विशेष रूप से यह कहा जाता है कि विवाह की प्रथा एक प्रकार का ठहराव मात्र है जो दोनों-पक्षों पर तब तक ही लागू है जब तक ठहराव की शर्तें दोनों ओर से पूरी की जा रही हैं। जिस क्षण किसी की ओर से वे शर्तें भंग कर दी जायँ उस क्षण विवाह का बंधन भी उद्ध्वस्त मानना चाहिए और दोनों पक्षों को पूरी स्वतंत्रता समझनी चाहिए। इस प्रकार के विचार के मूल में भी वही भौतिक दृष्टिकोण है जिसे आज की सभ्यता ने जीवन के प्रति ग्रहण किया है।

भारत के पुराने ऋषियों की दृष्टि ने इस सत्य का आभास पा लिया था कि मानवजीवन केवल भौतिक नहीं है। उसने इसी कारण आदि प्रवृत्तियों को इतना अधिकार देना अस्वीकार कर दिया कि वे सारे जीवन पर अपनी प्रभुता जमालें। उनका अपना जो स्थान है वह प्रदान किया जाय पर सीमा से परे जाने देना जीवन का हनन करना है। यह अनुभूति उनके प्रबुद्ध चेतन को प्राप्त हो गई थी। विवाह-प्रथा की सृष्टि इसी कारण हुई कि मनुष्य काम की प्रवृत्ति को अधिक पवित्रता तथा उन्नति की ओर ले जाय। विवाह को केवल स्त्री पुरुष के भौतिक नहीं किंतु आध्या-

त्मिक संयोग के रूप में कल्पित करने और उस आदर्श को मानवता के सामने देखने मे भारत ने सबसे प्रथम और सबसे अधिक प्रयत्न किया है। नर और नारी यदि परस्पर मिलकर शारीरिक उपभोग मे अपनी प्रवृत्ति की पूर्ति करना चाहते हैं, यदि उनकी यह वासना प्रकृति द्वारा जीवन के मूल में निहित कर दी गई है तो उसका शमन करना ही होगा। पर शमन की एक न एक सीमा भी बाँधनी पड़ेगी। सीमा आवश्यक है इसलिये कि प्रवृत्तियाँ स्वभावतः उपभोग से बढ़ती चलती हैं। यह जीवन की अनुभूति है जिससे आँखें मूँद लेना दुराग्रह है। यदि नरनारी का यौवन चाहता है, उसका रूप चाहता है तो स्पष्ट है कि एक नारी उसकी तृप्ति के लिये पर्याप्त नही हो सकती। फिर स्वभाव नवीनता का आकांक्षी होता है। फलत यदि कोई सीमा न हो तो आखिर जीवन चला कहाँ जायगा ? प्रवृत्तियों की उछ्लकृद मानवता को ले कहाँ जायगी ? समाज की स्थिति क्या हो जायगी ? मानवस्वभाव का यह अध्ययन हमें इस निर्णय पर पहुँचाता है कि प्राकृतिक पुकार के अनुसार नर को नारी और नारी को नर मिलना चाहिये अवश्य, पर एक सीमा भी होनी चाहिए जिसके भीतर रहकर वह अपनी कामनाओं की पूर्ति करे। विवाह की संस्था उसी सीमा का निर्धारण करने के लिये आविर्भूत हुई।

हमारे देश के मनीषी जानते थे कि सीमा निर्धारण कर देना एक बात है पर मानव को उसमें आबद्ध रखने में सफलता प्राप्त करना दूसरी चीज है। यह तभी संभव है जब उसके उज्ज्वलांश को उज्जीवित किया जाय, उसे उत्प्रेरणा प्रदान की जाय और जीवन में इतना जाग्रत कर दिया जाय कि वह अपने स्वरूप को समझ कर, अपने गुणो की अनुभूति कर और अपनी महत्ता तथा विशिष्टता से अभिज्ञ होकर प्रवृत्ति और विवेक के अंतर्द्वद्व में सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हो। इसी कारण उन्होने वैवाहिक बंधन को और विवाहित स्त्रीपुरुष के कामसंबंध को न केवल एक मात्र उचित बंधन घोषित किया, बल्कि उसमें आध्यात्मिकता का वह रंग भी भरने की चेष्टा की जो मानव के विशुद्ध सदांश को ऐसी शक्ति प्रदान करे कि वह प्रवृत्तियों की धारा को उन्नत और पवित्र स्तर की ओर ले जाने में समर्थ हो। वैवाहिक संस्कार के लिये गृह्यसूत्रों में जिन मंत्रों की रचना की गई है उनकी ओर देखिये तो स्पष्ट हो जायगा कि स्त्रीपुरुष के कामसंबंध को भी किस प्रकार पवित्र और किस प्रकार आध्यात्मिक स्वरूप देने की चेष्टा प्राचीन भारत की संस्कृति ने की थी। बरवधू किस प्रकार परस्पर प्रतिज्ञाबद्ध होते है, आजन्म एक साथ रहकर धर्म का प्रतिपादन करने का निश्चय करते है और शरीरों का ही नही प्रत्युत आत्माओं के समिलन का आयोजन करते हैं। वे दोनों जीवनरथ के दो चक्र के रूप में अवतीर्ण होते है और मिलकर इस भवप्रपंच से पार हो जाने का व्यूह रचते है।

उन्होने नारी की कल्पना केवल उपभोग के पदार्थ के रूप में नहीं की थी। महाभारत के आदि पर्व में शकुंतला दुष्यंत के उपाख्यान में नारी के प्रति भारतीय आदर्श का सुदर चित्र उपस्थित किया गया है। शकुंतला दुष्यंत से कहती है कि विवाह इसीलिये किया जाता है कि स्त्री धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जड़ है। वह सबसे बड़ा मित्र है। आनंद में मित्र के समान, विपत्ति में माँ के समान और मृत्यु के बाद भी परलोक में संगिनी के रूप में वही मिलती है। क्रोध में भी पुरुष

के लिये यह उचित नहीं है कि वह अपनी पत्नी का निरादर करे। उपनिषद* कहता है कि पत्नी से ही पुरुष की पूर्णता होती है। यही कारण है कि वैदिक आर्यों ने यहाँ तक घोषित किया कि बिना पत्नी के यज्ञादि कर्म अधूरे और निष्फल होते हैं। वेदों के मंत्रों में बार बार ऋषियों ने पुकार पुकार कर कहा है कि पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है, उसके बिना घर घर नहीं है। ऋषि पत्नियाँ पति के साथ मंत्र पढ़ती पढ़ाती थीं, यज्ञ करती थीं, दान देती थीं, सारे धार्मिक कार्यों में योग देती थीं। एक स्थान पर तो ऋषि इंद्र को उपदेश देता है कि तुम अब सोम का पान कर चुके, अपने घर की ओर जाओ क्योंकि घर में तुम्हारी पत्नी है और वही तुम्हारे लिये आनंद है। यह है नारी का पद और उसकी मर्यादा जिसे इस देश के ऋषियों ने स्थापित किया था। उन्होंने नारी को केवल उपभोग नहीं बल्कि नर के पूरक के रूप में, उसके जीवन के तत्व के रूप में ग्रहण किया था।

विवाह की पद्धतियों के संबंध में मानवबुद्धि जहाँ तक जा सकती थी वहाँ तक इस देश के विचारकों ने विचार किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में आठ प्रकार के विवाहों का विभाग मिलता है। बाद की स्मृतियों ने इन आठों विभागों की विवेचना की है। ब्राह्म, शौल्क, प्राजापत्य और दैव तथा गांधर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच इन आठ प्रकार की विवाहप्रणालियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम चार धर्म तथा बाकी चार अधर्म माने जाते रहे हैं। इन आठों पद्धतियों का भेद भी मनोरंजक है। ब्राह्म विवाह तो वेदमंत्रों से होता था जो संस्कारात्मक था। शौल्क में ठहराव के द्वारा सांकेतिक शुल्क देकर विवाह होता था। प्राजापत्य पद्धति की बड़ी महिमा थी। इसकी कल्पना में संस्कार और शुल्क दोनों था। इस विवाह का लक्ष्य ही था पतिपत्नी का एक होकर धर्माचरण करना। दैव विवाह पुरोहित को कन्या देने से होता था। ये चारों तो धर्म थे। बाकी में से गांधर्व विवाह युवकयुवती के पारस्परिक प्रेम के कारण बिना संस्कार के होता था। स्त्री को दाम देकर खरीदना आसुर विवाह कहलाता था। राक्षस का दूसरा नाम क्षात्र भी है। युद्ध में हारने पर कोई विजित की कन्या छीन लाये तो वह राक्षस विवाह था। पैशाच सब से घृणित माना जाता था। सोती, मूर्छित तथा उन्मत्त स्त्री को पकड़ लेना और रख लेना पैशाच था। ये चारों अधर्म थे, यद्यपि स्त्रियों की रक्षा के लिये कानून ने उन्हें वैधानिक मान लिया था। धर्म ने, कानून ने उन्हें वैधानिक बनाने के लिये स्त्रीधन निश्चित कर देने की माता पिता की स्वीकृति प्राप्त कर लेने की व्यवस्था की है। उसकी व्यवस्था है कि गांधर्व और आसुर विवाह में निर्धारित स्त्रीधन को यदि पति स्वयं अपने काम में लाये तो सूदसहित स्त्रीधन वापिस करे। राक्षस और पैशाच में यदि स्त्रीधन में पति हाथ लगावे तो उस पर चोरी का मुकदमा चलाने का आदेश है। मैंने इतनी विवेचना स्त्रीपुरुष संबंध के विषय में भारतीय विचारकों की कल्पना पर प्रकाश डालने की दृष्टि से ही की है। स्पष्ट है कि स्त्री को केवल उपभोग्य का पद प्रदान करने को वे तैयार न थे और न वैवाहिक संबंध को इंद्रियों की तृप्ति तक ही परिमित करना वांछनीय समझते थे। उस पर गौरव का, व्यवस्था का, नियमन और महत्ता का रंग चढ़ाना उनका

*बृहदारण्यक उपनिषद १।४।१७।

लक्ष्य था। जो कामसंबंध मूलत: इंद्रिय तृप्ति की प्रेरणा मात्र से स्थापित हो सकता था उसे भी विवाह की सीमा में रखा गया क्योंकि इसी मे स्त्री की रक्षा थी। फिर भी उस सबंध को अधर्म्य अथच न करने योग्य घोषित करके मानवप्रवृत्ति को संयत और उन्नत बनाने की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है।

ये बातें इस बात का प्रमाण है कि इस देश ने अति आरंभ में ही जीवन के इस मौलिक तत्व का आभास पा लिया था कि मानवता की, उसकी विशेषता और विकासयात्रा की यह अपेक्षा है कि मनुष्य आदि प्रवृत्तियों के संबंध में जीवन में सामंजस्य स्थापित करे। इस सामंजस्य का एक मात्र मार्ग था संयम अर्थात् प्रवृत्तियों को शनैः शनैः अधिक सुंदर बनाना और उनकी धारा को उन्नति की ओर ले जाना। भारत ही नहीं बल्कि सामूहिक रूप से मानवसमाज के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर हम सर्वत्र किसी न किसी रूप में उसकी इसी चेष्टा का दर्शन करेंगे। काम हो या क्रोध, राग हो या द्वेष, हिंसा हो या स्वार्थ, अहं की भावना हो या लोभ, जीवन में उनका निवास निर्विवाद है, पर उनकी उच्छृखलता और शक्ति को यथासंभव कुंठित करना मानव के परम लक्ष्य के रूप में प्रकाशित रहा है। इसके लिये उसने महती तपस्या की है जिस विरासत को लेकर आज का मनुष्य सभ्य होने का दावा करता है। मनुष्य ने जब जब इस लक्ष्य के अनुकूल व्यवस्थाएँ बनायी है तब तब उसने जगत् और जीवन को आगे बढाया है और जब जब अपने मोह में इस पथ की विपरीत दिशा में बढ़ा है तब तब उसका विनाश हुआ है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के प्रसिद्ध विद्वान् एलडर ने पते की बात कही है। वे कहते है कि मानवजाति के इतिहास का अध्ययन करते हुए जो मार्के की बात दिखाई देती है वह यही है कि जिस किसी युग में जिस किसी भूभाग के लोगों ने जब जब जीवन के ढंग की मूल भित्ति और अपना दृष्टिकोण ऐसा बनाया जो स्वार्थपूर्ण हों, जिसमें केवल अपने व्यक्तियो के सुख की प्राप्ति की भावना सर्वोपरि रही हो और समाज के सामूहिक हित का भाव दबता गया हो तब तब ऐसे लोग शीघ्र संसार से मिट गये। पर जिन सस्कृतियो ने प्रवृत्तियों को, स्वार्थ को नियंत्रित करके सामूहिक हित के लिये कुछ प्रदान करना अपना लक्ष्य बना रखा वे अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक जीवित रही हैं।

अभिमान या पक्षपात से नही बल्कि इतिहास के एक विद्यार्थी की हैसियत से मैं कहता हूँ कि भारतीय संस्कृति का इतनी विपत्तियों और आघातों का सामना करते हुए भी अब तक जीवित रहने का कारण कदाचित् यही है कि उसने केवल भौतिक भोग को अपना लक्ष्य नहीं रहने दिया। मानव विकासपथ का पथिक है। उसकी यात्रा का लक्ष्य है, प्रयोजन है और उस तक पहुँचना उसके जीवन की चेष्टा है। कोई व्यक्ति हो या समष्टि उसके जीवन की उपयुक्तता और सार्थकता की कसौटी इसी बात मे है कि वह मानवता के सामूहिक विकास के लिये उन अक्षुण्ण आदर्शों की स्थापना और रचना कर जाता है जो सनातन सत्य के आधार पर आश्रित हैं। भारत ने जीवन के प्रति जो आदर्श स्थिर किया था उसी से उसने नरनारी की समस्या की ओर भी देखा है। उसने जो हल उपस्थित किया है वह यूरोप का हल नही बल्कि मानव की महान् प्रकृति के अनुरूप है। भोग ही भोग नही बल्कि विवेकपूर्वक भोग में संयम के द्वारा सौंदर्य और पवित्रता की सृष्टि से ही जीवन की यह समस्या

हल होगी। इसके विपरीत मार्ग पकड़ना मनुष्य के हजारों वर्ष की यात्रा और तपश्चर्या पर हरताल फेरना है। आज आधुनिकता के पुजारी को इस ओर ध्यान देना है और विशेष रूप से ध्यान देना है। मेरे आधुनिकता के विरोध का यह अर्थ न समझना कि मैं उसकी किसी भी बात मे सहमत नहीं हूँ। मेरा विरोध केवल इस बात से है कि नर और नारी का संमिलन विशुद्ध भौतिक स्तर पर, केवल प्रवृत्तियों की पूर्ति और वासनाओं की तृप्ति के आधार पर स्थापित करना जीवन की समस्या को न हल कर सकता है और न मानवता के उन्नत होने में सहायता प्रदान कर सकता है विपरीत इसके वह हमारी मर्यादा और महत्ता के प्रतिकूल है जिसकी कल्पना भी घृणित तथा तुच्छ है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि नारी के अधिकार या उसके पथ का, जिसकी पुकार आज मची हुई है, मैं विरोधी हूँ। समाज मे, कानून में, राजनीति में और आर्थिक व्यवस्था में नारी को नर के समान पद और अधिकार न प्रदान करना पाप है। जब नर उसे जीवन के एक अंश और पूरक तत्व के रूप में ग्रहण करना चाहता है तो फिर अधिकारभेद या पदभेद के लिये गुंजाइश कहाँ रहती है? यह सच है कि मनुष्यसमाज ने इस दिशा मे सदा जबर्दस्ती से काम लिया है। उस भारत में भी जहाँ किसी समय नारी की मर्यादा के संबंध में ऊँची से ऊँची कल्पना की गई थी, आगे चलकर मनुष्यसमाज ने उसके प्रति अपराध करने में संकोच नही किया। इसी देश में एक समय पुरुष के साथ स्त्रियाँ समस्त सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में बराबरी के साथ भाग लेती थीं। मैं इस संबंध में अनेक प्रमाण देकर पत्र का कलेवर विस्तृत करना नहीं चाहता पर अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ मंत्रद्रष्टा ऋषि हुई है जिन्होने वैदिक ऋचाओं की रचना की है, ब्रह्मविद्या और तत्वचिंतन में स्त्रियाँ पुरुषों से कम नही रही हैं, युद्धों में पतियों के साथ साथ शस्त्र धारण कर लड़ी हैं और सामाजिक जीवन ही नहीं बल्कि राजकाज तक में भाग लेती रही हैं। पुराणों और स्मृतियों में भी नारी की महिमा गाई गई है। उसकी पूजा का आदेश दिया गया है, उसे सुखी रखने का उपदेश है और कहा गया है कि जहाँ वे दुखी रहती हैं वहाँ धर्म, कर्म सब निष्फल हो जाते हैं।

पर समय आया जब नारी के प्रति इस देश के पुरुष ने अन्याय किया। जिस देश में सृष्टि, स्थिति और विनाश की सनातनी शक्ति की कल्पना नारी के रूप में की गई थी और जहाँ कहा गया था कि समस्त स्त्रियाँ उसी महादेवी का स्वरूप है, वही उन्हें चंचला, स्वातंत्र्य के अयोग्य, विषमयी और सब दुःखों की खान तक बताया गया है। जिस समय इस देश में निवृत्ति मार्ग और संसार को परित्याग करके जंगलो की शरण लेने की लहर उत्पन्न हुई उस समय सबसे अधिक आकर्षक तथा प्रवृत्तियों को उद्दीप्त करनेवाली नारी पर अपना क्रोध उतारा गया। पर इतने से ही मामला हल न हुआ। स्मृतियों के युग में जो ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी पूर्व से आरंभ होता है, उन्हें समाज में भी स्पष्ट रूप से पुरुष से नीचा पद प्रदान करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। पत्नी को पतिव्रत का आदेश देना तो अनुचित न था पर पुरुष को बहुपत्नित्व का अधिकार प्रदान करना न्याय की बात नही कही जा

सकती। स्मृतियों की इस प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण दिए जा सकते है। यह ठीक है कि स्मृतियों की यह प्रवृत्ति तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न हुई थी। विदेशी आक्रमण देश पर होने लगे थे। बहुत सी विदेशी और अनार्य जातियों से संमिश्रण होने लगा था। फलत. वंश और जाति की शुद्धता विषयक कल्पनाओं ने इन बंधनों की सृष्टि करने की प्रेरणा प्रदान की। पर कारण चाहे जो रहा हो उनका औचित्य स्वीकार नही किया जा सकता। उसी का यह परिणाम है कि आज भारत की नारी त्रस्त है। किसी समय नारी को जो पद हमने प्रदान किया था और विवाह की संस्था को जिन आधारों पर स्थापित किया था, वह केवल प्राचीन इतिहास की सामग्री के रूप में रह गई है। यूरोप से आनेवाली आधुनिकता का विरोध हम करते है पर भारत की आधुनिकता तो उससे भी अधिक भ्रष्ट हो गई है। वे नारी को भौतिक स्तर पर भले ही देखे पर उसके साथ साथ कम से कम उसके व्यक्तित्व, उसके सामाजिक पद और उसके मानवीय अधिकार को तो स्वीकार करते ही हैं। पर हम तो नारी को आज एक ओर जहाँ केवल भोग्य सामग्री समझते है वहाँ उसे वह भी प्रदान नहीं करते जो यूरोप प्रदान करना चाहता है। जिस प्रकार हमारे देश में विवाह का रिवाज हो गया है, स्त्रियों को समाज में और घर मे जिस प्रकार रखने की परिपाटी चल पड़ी है उसमे तो मानवीय दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। जीवन मे उसका स्थान मनुष्य की कामप्रवृत्ति की तृप्ति तथा प्रजनन के सिवा दूसरा रह ही नहीं गया है। इस अति स्थूल कार्यक्रम मे भी उसे अपने व्यक्तित्व के लिये स्थान नहीं रहा। उसके हृदय और मनोभाव तथा इच्छा और अनिच्छा का कोई प्रश्न नही रहता। भोगलिप्सु पुरुष एक पत्नी के हृदय पर दूसरी को लाकर लाद दे सकता है, उसकी उपेक्षाकर दूसरे का प्रेमी बन सकता है और जब चाहे तब उससे अपनी प्रवृत्ति को पूर्ण करने की माँग पेश कर सकता है।

असहाय नारी को इन सबको सहन करना पड़ता है और समाज का कठोर हृदय इस पर तनिक भी पसीजता दिखाई नही देता। केवल रूप और लावण्य के क्षणिक आकर्षण पर होनेवाले विवाह, जिन्हें आजकल भ्रांत होकर प्रेम विवाह कहा जाता है, अपनी असफलता घोषित कर रहे है; क्योंकि उनसे जीवन में अधिक सुख और रस के संचार की जो आशा की जाती थी, वह निष्फल सिद्ध हुई है। नश्वर रूप पर आश्रित आकर्षण अनिवार्यत: क्षणिक होगा जो एक का भोग करने के बाद नए की खोज के लिये उत्प्रेरित होगा। यही कारण है कि प्रेम विवाहों की पोल खुल रही है और उनकी उपयोगिता महान् रूप से संदिग्ध हो गई है। पर इसके साथ ही इस देश में विवाह की जो विधि हो गई है वह भी उससे कम दोषपूर्ण नहीं है। एक दूसरे से पूर्णत: अपरिचित, यहाँ तक कि परस्पर के रूप, गुण और शकल सूरत से भी अपरिचित वर वधू को जड़ पदार्थ की भाँति सदा के लिये संस्कारों में आबद्ध करके एक करने की चेष्टा बहुत से युवक युवतियों का दांपत्य जीवन विनष्ट कर रहा है। भारत के आर्यों ने विवाह को जहाँ केवल भौतिक दृष्टि से नहीं देखा; जहाँ उसे दो व्यक्तियों का भौतिक मिलन ही नहीं बल्कि आत्मा का संमिलन माना, जहाँ स्त्रीप्रसंग का यह संयोग काम की सजात प्रवृत्ति को सीमाबद्ध करने की दृष्टि से स्वीकार किया वही उसके भौतिक अंग की उपेक्षा भी नहीं की। वेदों में युवक के

युवती के प्रति 'अभ्ययन', 'अभिमनन' के उदाहरण साधारण रूप से मिलते हैं। नर नारी का पारस्परिक आकर्षण, उनका रूप, अपना स्थान रखता था। अवश्य ही केवल उतना ही काफी न था। आवश्यक था कि परस्पर आकृष्ट प्रेमी परस्पर के व्यक्तित्व को परस्पर लय कर देने के लिये विवाह के बंधन में आबद्ध हों। एक बार इस प्रकार बँधने के बाद प्रवृत्तियों के संयम और हृदय के उच्चतर पुनीत भावों की विजय के लिये सचेष्ट रहें। दोनों मिलकर पूर्ण हो जायँ और प्रेम अक्षय पद प्राप्त करे, यह आदर्श था। आज इस आदर्श को भारत भी भूल गया है। भारत के सिवा अन्य देशों में भी स्त्री को समाज में समान अधिकार और पद प्रदान करने की चेष्टा रही है। आज भी जो देश सभ्य बनते है वहाँ अब तक कुछ न कुछ भेद दिखाई देता है।

इन परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह होना चाहिए, यह निर्विवाद है। पर मेरा कहना केवल इतना ही है कि विद्रोह दुतरफा होना चाहिए। एक ओर जहाँ नारी को समस्त सामाजिक, राजनीतिक और कानूनी अधिकारों से पुरुष के समान संपन्न करना चाहिए वहीं नर नारी के संबंध के विषय में जो घृणित, भौतिक दृष्टि-कोण है उसे बदलना चाहिए। आधुनिकता के आवरण में पुरुष और स्त्री की पारस्परिक भोग की दृष्टि की ज्वाला एक दूसरे को जलाकर नष्ट न करने पावे। एकपत्नीव्रत और पतिव्रत का मजाक भले उड़ाया जाय पर स्पष्ट है कि मानवता उन्ही के द्वारा सुंदर, आदरणीय और गौरवमयी हुई है। इतना ही नहीं बल्कि जीवन की कामसमस्या भी उनके द्वारा ही अपेक्षाकृत अधिक सरलता से हल हुई है। यूरोप में अविवाहितों के कामसंबंध और रोज रोज के तलाकों की भरमार से सामाजिक जीवन छिन्नभिन्न हो रहा है। काम की प्रवृत्ति को उन्होंने अभूतपूर्व भ्रष्टता प्रदान कर दी है। इसके विपरीत इस देश मे पति और पत्नी को केवल व्यक्तियों के रूप में ही नहीं बल्कि संस्था के रूप में भी स्थापित किया गया था। पतित्व और पत्नीत्व का विकास एक आदर्श के रूप में, भाव के रूप में, हुआ था। राजपद पर आसीन व्यक्ति का आदर उस व्यक्ति का नहीं बल्कि उस पद का आदर होता है। किसी देवप्रतिमा का पूजन करते हुए उस पत्थर का पूजन नहीं किया जाता जिसकी प्रतिमा बनी होती है बल्कि उस आदर्श और उस भाव की पूजा की जाती है जिससे वे अनुप्राणित होते हैं। पत्नी पति से प्रेम केवल इसलिये नहीं करती कि वह व्यक्ति-विशेष है बल्कि उसका प्रेम उस आदर्श और उस भाव के प्रति भी होता है जिसे संस्कारों ने पति पद पर स्थित व्यक्ति में भर दिया है। प्रवृत्ति का इस प्रकार उच्चतर दिशा की ओर उन्मुख होना तज्जन्य समस्या को बहुत कुछ हल कर देता है। सीता और सावित्री आज भारत की लाखों नारियों के लिये विशिष्ट चरित्र की महिलाएँ ही नहीं बल्कि एक सजीव संस्था हैं, उज्वल आदर्श हैं जो उन्हें अनुप्राणित करता रहता है।

मैं यह नहीं मानता कि भारत की नारी आज भी पूर्व के किसी युग की नारी से किसी भी दृष्टि से कम है। उसमें अपने राष्ट्रीय विशेषता की अलौकिक ज्योति अब भी वर्तमान है। भेद केवल इतना है कि वह युगधर्म से उसी प्रकार प्रभावित है जिस प्रकार कोई भी दूसरा प्रभावित है। मैं मानता हूँ कि उसका इस प्रकार

प्रभावित होना बिलकुल स्वाभाविक है। कालात्मा की पुकार ने भी अपने व्यक्तित्व का बोध करा दिया है। जो आज इस सत्य को नहीं समझते अथवा समझकर उसे दबाने या उसकी उपेक्षा करने की चेष्टा करते है। वे दापत्य जीवन में व्यर्थ ही कटुता, क्षोभ और दुःख की सृष्टि करते है। आज की नारी पुरुष को सब कुछ प्रदान करने के लिये तैयार है। वह अपना पुण्य, अपना सौंदर्य, अपना शरीर, अपना हृदय अर्थात् अपना सर्वस्व तक प्रदान करने के लिये तत्पर है पर इसके एवज में वह भी कुछ चाहती है। वह चाहती है केवल इतना कि उसके व्यक्तित्व का अस्तित्व स्वीकार किया जाय। वह प्रणयी के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को लय करके उसका पूरक बनने की और अपना पूरक बनाने की कोमल कामना रखती है। इस पारस्परिक आदान प्रदान में उसे अपने जीवन की सार्थकता तथा उसका रस और सौंदर्य दिखाई देता है। परंतु जब पुरुष इससे संतुष्ट नहीं होता, जब वह अपने पौरुष के अहंकार में उससे मूक आत्मसमर्पण की माँग करता है तब नारी हृदय विद्रोह की ओर बढ़ता है। आप उसके व्यक्तित्व मे अपने को और उसे अपने में लय करना नही चाहते पर चाहते हैं अपने को अक्षुण्ण रखते हुए उसका संपूर्ण समर्पण ! यही स्थिति कटुता का कारण होती है। आपके कान उसके मुख से यह सुनने के लिये उत्सुक रहते है कि उसे आपके बिना शांति नही और सुख नही। आप चाहते है कि आपकी भोगलिप्सा हो या कामपिपासा, अथवा और कोई इच्छा वह उसकी पूर्ति संकेतमात्र मिलने पर कर दे पर आप उसे यह आभास भी मिलने न दें कि आपके जीवन में उसका इससे कुछ अधिक स्थान भी है। उसे भी हृदय है, कामना और लालसा है। जिन्हें नारी हृदय का परिचय है वे जानते हैं कि पुरुष हृदय की अधिष्ठातृ बनने की सरल, सहज और पुनीत साधना लेकर ही वह जीवन में पदार्पण करती हैं। उसकी इस साध का आदर कीजिए, उसकी पूर्ति कीजिए और फिर देखिए कि भारत की नारी उन्हीं उज्ज्वल भारतीय आदर्शों की सजीव प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित होती है जिसका उल्लेख किया गया है। वह तो उसका युग युग का संस्कार है। वह संस्कार उसके रोम रोम में ओतप्रोत है। जातियों के शताब्दियों के जीवन से इतिहास का निर्माण होता है और शताब्दियों का इतिहास संस्कारों की रचना करता है। इन संस्कारों में जाति की अनुभूति और साधना भरी हुई होती है। यदि उनमें सत्यांश और तथ्यांश दिखाई दे तो भारत के युवक युवतियों को उनकी रक्षा करनी चाहिए। कदाचित् पथभ्रष्ट और भ्रांत हुई इस युग की मानवता को यहीं से प्रकाश मिले जिसके द्वारा मानवसमाज का जीवन अधिक सुखकर और श्रेयस्कर हो जाय।

तुम्हारा
**बाबू**

---

## १५

नैनी सेंट्रल जेल
ता०...

प्रिय लालजी !

पूर्व के पत्रों में मैंने बहुत सी बातें लिखी हैं जिनका जीवन से गहरा संबंध है। यौवन में पदार्पण करते ही मानवहृदय की जो चाह जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डालती है और जिसका प्रभाव फिर सारे आगत जीवन पर बना रहता है उसके संबंध में विस्तार से लिखना आवश्यक था। नारी को, उसके रूप और सौंदर्य को, उसके प्रति आकर्षण और प्रेम को, जीवन से उसके संबंध को मैंने जिस दृष्टि से देखा है और जिस दृष्टि से देखना उचित समझता हूँ उसे ही अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। काम की प्रवृत्ति का जो अर्थ मैं समझता हूँ और फिर मानवजीवन का, उसके व्यक्तित्व का, उसकी विशेषता का और उसके विकास, प्रयोजन तथा लक्ष्य का जो स्वरूप मेरी दृष्टि में आया उसे तुम्हारे सामने रखने की चेष्टा की है। प्रवृत्तियों और विवेक से दो परस्पर दिशाओं में बलात् आकृष्ट मानव किस प्रकार जीवन का संचालन कर सकता है और जीवन के प्रश्नों की ओर उसे कौन सा मौलिक दृष्टिकोण ग्रहण करना चाहिए, इसके संबंध में अपने विचार प्रकट कर दिए हैं। इन विचारों ने मुझे जीवन की समस्या हल करने में सहायता प्रदान की है तथा उनमें मेरी अनुभूतियाँ मिली हुई हैं। मैं साधारण मनुष्य हूँ और मनुष्य की भाँति हृदयस्थ द्वंद्वों से पीड़ित होता रहा हूँ। ईर्ष्या और राग, क्रोध और काम, घृणा तथा द्वेष, लोभ तथा अहं जीवन में समस्याएँ उत्पन्न करते रहे हैं और करते रहते हैं। प्रवृत्तियाँ तथा भोग की लालसा किसे नहीं सताती ? फिर जिस किसी को भी हृदय है वह उसकी लीला का शिकार भी होता रहता है। नारी ने अपने समस्त सौंदर्य, मोहकता और मादकता के साथ मेरे जीवन में भी पदार्पण किया है। मैं उसके यौवन और आकर्षण से प्रभावित हुआ हूँ और होता हूँ। अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को लिए दिए मैं नारी के प्रेम के दाह में विदग्ध हो चुका हूँ और उस काल की मनःस्थिति का अनुभव कर चुका हूँ। उसने मुझे आमूल हिला दिया है, प्रवृत्तियों को उत्तेजित किया है, हृदय के अंतरतम की कोमल तंत्रियों को झंकृत कर दिया है। साथ ही मेरे उत्तमांश को प्रबुद्ध किया है, जीवन के स्वरूप को समझने की दृष्टि प्रदान की है और किसी उन्नत स्तर पर ले जाकर जगत् को देखने के लिये उत्प्रेरित किया है। उसने समस्या का रूप ग्रहण करके हृदय में ग्रंथि डाल दी और फिर उसी के द्वारा उद्बुद्ध चेतना ने धीरे धीरे उस गाँठ को सुलझाने की शक्ति और सफलता पाई है।

जीवन और उसके इस संबंध का मुझे कुछ कुछ अनुभव है और उसकी शक्ति का ज्ञान पा चुका हूँ। मैं जानता हूँ कि जो मनुष्य है उसके जीवन मे ये समस्याएँ

उत्पन्न होती हैं और होंगी । मानव अपने आभ्यंतरिक द्वंद्वों से मुक्त नही हो सकता । जिस दिन वह इससे मुक्ति पा जाता है अथवा पा जायगा उस दिन वह मनुष्य न रहेगा अपितु विकासक्रम का कदाचित् कोई दूसरा प्राणी होगा । यौवन आया है तो उसे ग्रहण करो पर तज्जन्य उसकी समस्याओं से, जब कभी भी वे सामने आवें, कभी घबराना मत । समस्याओं का हल न उनके प्रति आँखें मूँद लेने से होता है और न उनसे भयभीत होकर घबराने से होता है । ये दोनों प्रवृत्तियाँ न केवल हानिकर हैं प्रत्युत मै उन्हें कायरता समझता हूँ । उनसे समस्या का निपटारा होता नहीं, वे और उलझाकर जीवन को सदा के लिये दुखी अवश्य कर जाती है । उनको सुलझाने का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य की तरह हम उनका सामना करें, उनके स्वरूप को समझें, विवेक और संयम से काम लें तथा जोवन में सामंजस्य और संतुलन स्थापित करने की चेष्टा करें । जीवन की भित्ति ही सामंजस्य पर अव-लंबित है । धैर्यपूर्वक इस मार्ग का अवलंबन जीवन रथ को पार लगा देता है । मैंने जो कुछ लिखा है वह मेरी अनुभूति है और उसपर मेरे अंतःकरण की छाप लगी हुई है । यह कोई जरूरी बात नहीं है कि आज या आगे चलकर कभी जब तुम उन बातों को अच्छी तरह समझने लगो और जब उस प्रकार की स्थिति तुम्हारे सामने भी आवे तब मेरी सब बातें ही ठीक जचें और प्रत्येक को तुम वेदवाक्य की तरह ठीक ही समझ लो !

मनुष्य की अपनी चेतना, मौलिकता और संस्कार उसे विभिन्न दृष्टियाँ प्रदान करते हैं । सभव है, तुम्हारी दृष्टि भी इससे भिन्न हो । उस स्थिति में भी परेशान होने की बात नही है । यही मान लेना कि ये बातें भी एक पहलू हो सकती है, एक दृष्टिकोण प्रकट करती है जिसपर विचार किया जा सकता है । उन्हें मानना न मानना यह तो अपने उद्‌बोध, अनुभव और विश्वास की बात है । यदि इनसे कुछ सहायता मिले तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करना, अन्यथा, इन्हें यों ही छोड़ जाना । यह सब होते हुए भी एक बात की ओर तुम्हारा ध्यान पुनः आकृष्ट कर देना चाहता हूँ । इन बातो को मानो या न मानो पर मुझपर बिना किसी संकोच के सदा विश्वास कर सकते हो । मैं सदा प्रत्येक स्थिति में तुम्हारी सहायता करने में प्रसन्नता और संतोष का अनुभव करूँगा । सिद्धांतों को छोड़कर केवल व्यावहारिक प्रश्नों को लें तो कह सकते हैं कि तरह तरह की कठिनाइयाँ सामने आती हैं जिनको हल करना सरल काम नही हुआ करता । ऐसे उदाहरण मुझे जीवन में मिले है । एक घटना मुझे याद आ रही है । एक युवक था, मेरा मित्र और मुझपर विश्वास करता था । वह एक युवती से प्रेम करता था । उसका स्नेह सच्चा स्नेह था, स्नेह के तमाम अर्थों के साथ स्नेह था । युवक आदर्शवादी था, सच्चरित्र था । पर दुर्भाग्य से जिस युवती से स्नेह करता था वह रिश्ते में ऐसी थी जिसके साथ विवाह समाज की दृष्टि में, धर्म और परंपरा की दृष्टि में हो ही नहीं सकता था । युवक युवती परस्पर को सच्चे रूप में अपनी संपूर्णता से स्नेह करते थे, पर यह ऐसी चट्टान थी जो दोनों के लिये अलंघ्य थी । फलतः इस समस्या को हल करना कठिन था। उस युवक की पीड़ा और परिताप का मुझे अनुभव है, फिर भी उसने इसे सुलझाया। स्नेह की उसकी प्रवृत्ति में जहाँ भौतिकता थी वहीं हृदय की साध अपनी सारी पवित्रता

और मधुरिमा के साथ उद्भूत हुई थी। मैं जानता हूँ कि वह उस युवती को पा न सका पर स्नेह की धारा ने उन्नत पथ का अवलंबनकर उसके जीवन को न जाने कितना विकसित किया। जीवन में पड़ी गाँठ न जाने कैसी अकल्पित परिस्थितियाँ और प्रभाव उत्पन्न करती है। जिनकी प्रवृत्ति, चाह और लालसा का आश्रयस्थल लुप्त हो रहा हो उन अभागों के जीवन का निर्देश किधर होना चाहिए? ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने की क्षमता भला किसमें है? पर उत्तर मिलता है और जीवन ही उत्तर देता है। उस युवक की आंतरिक चिन्मयी प्रेरणा ने उसे उत्सर्ग की ओर ही प्रवाहित किया। कोई दूसरा नही कह सकता कि इस उत्सर्ग में आनंद है या नही। तर्क किया जा सकता है कि इस प्रवृत्ति का मूल पूर्णता नही अभाव है, शून्यता है। अभाव से उद्भूत आत्मोत्सर्ग में आनंद कहाँ? तर्क सुनने और देखने मे प्रौढ़ ज्ञात होता है पर मानव का हृदय इतना सरल नहीं है कि उसपर एक ही पहलू से देखकर फैसला दे दिया जाय। जो स्नेह अपनी अभीप्सित वस्तु को न पाकर शून्यता का सृजन करता है वही दूसरी ओर हृदय की मीठी वेदना में अनायास वह आनंद भर देता है जिससे सारा जीवन ओतप्रोत हो जाता है। स्नेह की वही धारा कदाचित् विराट रूप धारणकर स्नेही की दृष्टि में सारे जगत् में छाती दिखाई देती है। फलत: त्याग और विसर्जन मे सिद्धि प्राप्त करके जीवन की सार्थकता की संतोषप्रद अनुभूति होने लगती है। इसे वे नही समझेंगे और न मानेंगे जो इस जीवन के भोग को ही सत्य समझ बैठे हैं, पर उन्हें इसमें सत्य दिखाई देगा जो अनुभवी है और मानव के दूसरे अंश का भी साक्षात्कार किए हुए हैं।

यह कहानी कहने का मेरा तात्पर्य केवल इतना था कि जीवन में ऐसे व्यावहारिक प्रश्न उपस्थित होते रहते है, जिनका सिद्धांतत: हल सरल और सीधा होते हुए भी व्यावहारिक सुलझाव नहीं दिखाई देता। कोई नहीं कह सकता किसके जीवन में कब ऐसे प्रश्न खड़े हो जायें। संभव है कि ऐसे सवाल तुम्हारे सामने आ जायें जो सिद्धांत की दृष्टि से बिलकुल स्पष्ट होते हुए भी व्यवहार के अनुसार परंपरा और संस्कार तथा समाज के अनुसार हल न हो सकते हों। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि उस स्थिति में भी परेशान न होना। धैर्यपूर्वक देखोगे तो जीवन स्वयं उसे हल करता हुआ दिखाई देगा। इसके साथ साथ यदि किसी की सहायता और सहयोग की आवश्यकता प्रतीत हो तो विश्वास रखना मुझे उसके लिये सदा उत्सुक, इच्छुक और सजग पाओगे। मेरे अनुभव, विचार और प्रेक्षण सब तुम्हारे लिये अर्पित रहेंगे। मित्रता के यही अर्थ हैं और मैंने आरंभ में ही तुम्हारा मित्र होने का दावा किया है। अभी मुझे मित्रता के संबंध में एक पुराना श्लोक याद आ गया है। मैं उसे उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ, क्योंकि यौवन में युवक मित्र भी सरलता से बनता है। मित्रता भी जीवन का आशीर्वाद है, बड़ी भारी उपलब्धि है पर शर्त यह है कि वह सच्ची हो तथा मैत्री के सारे अर्थो से गर्भित हो। मित्रता में स्वार्थ की दुर्गंध न हो, स्पर्धा और अहकार का स्पर्श न हो तथा परस्परके लियेत्यागतथा साहाय्य प्रदानका भावहो तो उससेबढ़कर वांछनीयभला और क्या हो सकता है। खेद यही है कि ऐसी मित्रता होती है बहुत कम। युवक बहुधाभावुकहोताहै फलत: जीवन कीउमंगें उसेजल्दीजल्दी मित्र बनानेऔर पाने के

लिये उत्प्रेरित करती रहती हैं पर प्राय: उनसे सुख के स्थान पर क्षोभ ही अधिक होता है। अत: मै उस श्लोक को उद्धृत करता हूँ जो उस दिशा मे तुम्हारा मार्ग-निदर्शन तो करेगा ही साथ साथ मेरे हृदय की इच्छा भी प्रकट कर देगा—

**पापान्निवारयति योजयते हिताय,**
**गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।**
**आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,**
**सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥**

सच्चे मित्र का लक्षण यह है कि वह अपने मित्र को पाप से, अनुचित पथ से विमुख करने की चेष्टा करता है और उससे उसके हित के कल्याण के मार्ग की ओर ले जाने का यत्न करता है। मित्र की जो बात छिपाने योग्य है उसे छिपाता है और उसके जो गुण प्रकट करने लायक है उनका प्रकटीकरण करता है। यदि मित्र कभी विपत्ति में फँस जाता है तो उस काल में उसे छोड़ता नही और संकट आने पर जो कुछ देकर उसकी सहायता की जा सकती हो उसे देकर करता है। यह है सच्चे मित्र का लक्षण! इसी कसौटी पर कसने के बाद मुझे चोखा पाओगे इसका विश्वास रखना।

आशय यह है कि जब कभी समस्याएँ उपस्थित हो तब उनका सामना पुरुष की भाँति करना। किसी ने सच कहा है कि जीवन संघर्ष है। मानव को प्रतिक्षण युद्ध करते ही बीतता है। इस युद्ध में सफलता वही पाता है जो धीरता के साथ कठिनाइयों का सामना करता है। योद्धा का सबसे बड़ा लक्षण ही है अविचल धीरता। पर मनुष्य को सबसे अधिक युद्ध अपने से ही करना पड़ता है। वह आगे बढ़ना चाहता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसके जीवन के भीतर नैसर्गिक रूप से वर्तमान है पर इस बढ़ाव में वह स्वयं ही सबसे बड़ा बाधक है। आगे बढ़ने का उसकी प्रवृत्ति का विरोधी तत्व भी उसी जीवन में नैसर्गिक रूप से उपस्थित है। यह स्थिति बड़ी भारी पहेली है पर पहेली भले ही हो, वास्तविकता यही है। उसने स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर बंधन लगाए है। सामाजिक व्यवस्थाओं, नैतिक नियमों, आचरण संबंधी तरीको तथा तरह तरह की संस्थाओं और परंपराओं को जन्म देकर उसने स्वयं ही अपने को आबद्ध किया है। पर उसने यह बंधन भी अपने बढ़ाव के लिये ही लगाया है। उसने अनुभव किया है कि अपने को, अपनी प्रवृत्तियो को आबद्ध करके वह उस शक्ति का उपार्जन करता है और जीवन में सामजस्य लाकर वह उस उत्प्रेरणा को प्राप्त करता है जिसका उपयोग नई दिशा में करके सामूहिक रूप से अपनी जाति और जगत को अभ्युत्थान तथा नि श्रेयस की ओर ले जा सकता है। बंधन और बंधन से बढाव तथा मुक्ति यह क्या स्वयं ही परस्पर विरोधी तथा रहस्यमय नही ज्ञात होता? पर इम विरोध मे जीवन का रहस्य सन्निहित है। फिर भला मानव को संघर्ष न करना पड़े तो आश्चर्य ही है! याद रखना कि इस संघर्षमय जीवन में उतरने का प्रथम सोपान वह यौवन ही है। वही शक्ति का स्रोत है। फलत: जीवन को संघर्षमय, रणक्षेत्र और ऊबड़खाबड़ पथ समझकर उसमें उतरने के लिये तैयार हो जाओ।

फिर जब जिदगी मे रगड़ ही रगड़ है तब जय पराजय, दुख सुख, आशा निराशा,

अंधकार प्रकाश के दर्शन होते ही रहेंगे। ये चक्र की भाँति आते और जाते रहते हैं। न कभी सुख ही स्थायी होता है और न कभी दुःख ही। एक आता है दूसरे को अपने गर्भ में लिए हुए। सबको इनका सामना करना पड़ता है और करना पड़ेगा। जब यही जीवन की वास्तविकता है तब उससे कभी त्रस्त होने की आवश्यकता क्या है? कोई चाहे या न चाहे पर परिस्थितियाँ और जगत् की गति इन्हें मेरे, तुम्हारे और सबके लिये सृजती ही रहेंगी। इस स्थिति में आवश्यकता होती है मन की तुला को ठीक रखने की। कभी उसे डगमगाने न देने में ही सफलता और सार्थकता है। ये आवेंगे, अनित्य होते हुए भी जीवन पर अपनी छाप छोड़ जायँगे। और सुख दुःख, आशा निराशा के उन क्षणों की स्मृति प्रदान कर जायँगे जो अनंत में विलीन होने के बाद भी सत्य के रूप में जीवन को प्रभावित करते रहेंगे। यह होते हुए भी मन को अविचल रखना ही मानव जीवन की साधना होनी चाहिए क्योंकि यही उसके संचालन का एकमात्र उपाय है। मन की वह स्थिति बनाने की चेष्टा सतत करते रहना चाहिये जो सुख दुख को छायाचित्र की भाँति जीवनपट पर अभिनय करता देखकर भी दोनों में सतुलन कर सके, उन्हे समबुद्धि से देख सके और उन्हे अभिनय ही समझ सके। मानता हूँ कि यह पथ कठोर है, आदर्श तक पहुँचना कठिन है पर इसके लिये सचेष्ट रहना हमारे हाथ में है इस सचेष्टता में ही हमारे कर्तव्य की पूर्ति हो जाती है।

मानव के हाथ में जीवन की घटनाओं को अपने अनुकूल प्रवाहित करने की शक्ति अवश्य ही नहीं है पर कर्तव्य का निर्धारण करके उसकी पूर्ति करने का दृढ़ संकल्प करने की स्वतंत्रता अवश्य है। संकल्प और इच्छाशक्ति की यह स्वतंत्रता स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि इससे जीवन को बल और सहारा, ओज तथा स्फूर्ति मिलती है। कर्तव्यबुद्धि को मलिन करनेवाली परिस्थितियाँ भी जगत् में थोड़ी मात्रा में उद्भूत नहीं होती। पदे पदे उनका अनुभव होता है। मनुष्य की अपनी प्रवृत्तियाँ, उसका अपना मोह, जगत् की अनेक धाराएँ उसके इस पथ में बाधक होती हैं पर इन बाधाओं का संवरण करना भी उसके कर्तव्य क्षेत्र में ही आता है। फलत. यथासंभव सुख दुखों की चिंता और आशा निराशा के प्रभाव से अपने को अछूता रखने की चेष्टा करते हुए उन कर्तव्यों की पूर्ति में लगा रहे जिनका निर्धारण मानव की चेतना जीवन की पूर्णता, विकास और अभ्युत्थान के लिये आवश्यक समझती है तथा जिसे वह मानवता की विशिष्टता और महत्ता के अनुरूप तथा अनुकूल अनुभव करती है। यही है आदर्श। जो जीवन आदर्श से अनुप्राणित और उत्प्रेरित नहीं है वह निकम्मा और निर्जीव है। आदर्श ही जीवन की उपयोगिता और मूल्य का अंकन करते हैं। आदर्श की ज्योति से क्षण-भर के लिये भी प्रज्वलित होकर बुझ जानेवाला जीवन उससे कहीं अच्छा है जो धूमाहत अग्नि की भाँति सिसक सिसक कर जिंदा रहता है। 'क्षणं प्रज्वलितं श्रेयो, न च धूमायितं चिरम्'।

अब मैं यह पत्र समाप्त करना चाहता हूँ। मेरे मन में अभी और बहुत सी बातें कहने के लिये आ रही हैं। उन्हें पुनः यथावसर कहूँगा। मानव समाज का प्राणी है। उस पर उत्तरदायित्वों का बोझ लदा हुआ है। वह उस विरासत

से दबा हुआ है जो न जाने कितनी सहस्राब्दियों के इतिहास ने उसे प्रदान कर दी है। वह अपनी चेतना की प्रेरणाओ से भी आबद्ध है। हजारों वर्षो के संस्कारों से भी उसका जीवन प्रभावित है। उसका अपना व्यक्तित्व भी दो पहलू रखता है, जो परस्पर विरोधी होते हुए भी परस्पर पूरक हैं। इस स्थिति में उसके समस्त पहलुओं की विवेचना नही की जा सकती है। जीवन का इतना ज्ञान भी भला किसे हो सकता है ? अनंत सृष्टि के असीम क्षेत्र में अपने भौतिक और अभौतिक रूपों से विचरण करनेवाला यह ससीम प्राणी प्रकृत्या असीम का उद्घाटन करके उसमें अपनी सीमा का अंत कर देने पर तुला दिखाई देता है। अतः ऐसे विचित्र जीवन के संबंध में रेखा खीचकर सब बातें कह देने का साहस कोई नही कर सकता। फिर भी व्यक्ति की अपनी अनुभूतियाँ और ज्ञान उसके लिये सत्य ही है। फलतः उन्हें तुम्हारे सामने रख दिया है। अब और जो कुछ कहना होगा उसे आगे कहूँगा। आज यही शाति विराजे !

तुम्हारा
बाब

# १८

नैनी सेंट्रल जेल
ता०........

प्रिय लालजी

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका अपना व्यक्तित्व अलग है और समाज का समूह अलग। पर इस भिन्नता के होते हुए भी दोनों इस प्रकार एक दूसरे से मिल गए हैं कि उनकी अलग अलग सीमा बाँधना प्राय: कठिन हुआ करता है। व्यष्टि से समष्टि बनता है पर समूह से अलग होकर व्यक्ति का रहना भी असंभव हो जाता है। मानव व्यक्तित्व ने, कदाचित अपनी आवश्यकताओं और अनेक परिस्थितियों से बाध्य होकर तथा अपनी सहज उत्प्रेरणा के वशीभूत होकर ही, सामाजिक जीवन यापन करने का निश्चय कभी कालांतर में किया होगा। निस्संदेह वही समाज का जनक रहा होगा। यह सच है कि व्यक्ति व्यक्ति से मिलकर समाज बना होगा पर समाज ने मूर्त रूप धारण करने के बाद फिर मनुष्य के व्यक्तित्व की सीमा को बहुत बड़े अंशतक अपने में लय कर देने में सफलता भी अवश्य प्राप्त की होगी। इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है कि समाज बड़ा है अथवा मानव व्यक्तित्व। मनुष्य समाज के लिये है अथवा समाज मनुष्य के लिये ? मानव की उपयोगिता समाज के सुचारु रूप से संचालन के लिये, उसके विकास के लिव है अथवा समाज साधन है मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता और विकास का ? येये प्रश्न ऐसे हैं जिनपर विचारक कभी एकमत न हो सके। कोई कहता है कि उस समाज की कोई सार्थकता ही नही है जो मनुष्य को स्वतंत्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर नही देता। वे समझते हैं कि समाज की रचना का लक्ष्य ही यह है कि मानव उसके द्वारा अपने अक्षुण्ण व्यक्तित्व को समुन्नत कर सके।

पर दूसरे प्रकार के विचार रखनेवालों का कहना है कि मानव जीवन की प्रवृत्ति ही है कि वह समाज की सामूहिक उन्नति का साधक हो। समष्टि में व्यष्टि की उन्नति हो सकती है। समूह के लिये ही व्यक्तित्व की सत्ता है। यदि वह समूह के हित के साधक के रूप में अपना अस्तित्व नहीं रखता तो उसकी कोई उपयोगिता ही नही है। इन दोनों प्रकारो के विचार में बल है, प्रौढता है; पर मैं समझता हूँ कि सचाई दोनों के बीच में है। मनुष्य समाज के लिये है और समाज मनुष्य के लिये। दोनों का अस्तित्व अन्योन्याश्रय है और दोनों परस्पर के हित और उन्नति के साधक के रूप मे हैं। समाज को व्यक्ति की चिंता करनी होगी, उसके विकास और उसकी उन्नति का आधार बनना होगा और उसके अभ्युदय तथा निश्रेयस का मार्ग प्रशस्त करना अपना लक्ष्य बनाना होगा। जीवन का व्यावहारिक रूप भी यही है। इसी प्रकार व्यक्ति को समाज की चिंता करनी पड़ेगी, समष्टि में व्यक्तित्व का लय करना पड़ेगा और सामूहिक रूप से उसके कल्याण

तथा हित को अपने जीवन, आचरण तथा सक्रियता और कर्तव्य का प्रधान लक्ष्य बनाना होगा। समाज की शक्ति, उसका संघटन, उसका प्रभाव मनुष्य के लिये बंधन और रुकावट का काम करते हैं पर इसी बंधन, रुकावट और 'ब्रेक' में मनुष्य के विकास और उसकी मुक्ति तक का आयोजन किया गया है। इसी प्रकार समाज व्यक्तियों के चरित्र, उनकी शक्ति और उनकी मौलिकता से त्रस्त होता है। व्यक्तियों की विशिष्टता उसे कभी कभी जड़ से हिला देती है। व्यक्ति विशेष विद्रोह के प्रतीक हुए हैं, सामाजिक बंधनों को छिन्न भिन्न करते रहे हैं और उनके स्थापित स्वरूप को मूल से उलट पुलट देने के कारण हुए हैं। पर व्यक्तियों की यह अंतः-प्रेरणा और आभ्यंतरिक शक्ति तथा चेतना समाज के विकास का कारण हुई है। विद्रोहों और क्रांतियों ने नए तथा अधिकतर विकसित और उन्नत समाजों को जन्म दिया है जिसके द्वारा मानवता आगे बढ़ी है। उसके विकास का इतिहास स्पष्टतः इसका साक्षी है।

इस प्रकार समाज और व्यक्तित्व ऊपर से एक दूसरे के विरोधी दिखाई देते हुए भी वस्तुतः परस्पर के पूरक रहे हैं और परस्पर का हित तथा कल्याण दोनों करते रहे है। मनुष्य ने समाज की रक्षा और हित के लिये अपने व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की सीमा को न केवल परिसीमित किया है बल्कि उसे समाज में लय कर दिया है। एक प्रसिद्ध कहानी है कि एक सज्जन लंडन की सड़कों पर अपनी छड़ी घुमाते हुए टहल रहे थे। उनकी घूमती हुई छड़ी किसी पीछे आनेवाले की नाक से लड़ गयी। फलतः उन सज्जन पर अदालत में मुकदमा चला। अपनी सफाई में उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि सड़क सार्वजनिक संपत्ति है और मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता कानून से सुरक्षित है। फलतः सड़कपर स्वतंत्रतापूर्वक छड़ी घुमाते हुए टहलने का मुझे अधिकार है। अदालत ने अपने फैसले में कहा कि किसी मनुष्य की व्यक्ति-गत स्वतंत्रता वहाँ समाप्त हो जाती है जहाँ दूसरे मनुष्य की नाक का आरंभ होता है। वास्तव में इस फैसले में मानव और समाज के सारे संबंध का सच्चा अर्थ भरा हुआ है। मनुष्य ने अपनी रक्षा और स्वतंत्रता के लिये ही अपने अधिकारों का बहुत बड़ा अंश समाज को समर्पित कर रखा है। समाज भी व्यक्तियों की रक्षा और स्वतंत्रता के लिये ही व्यक्ति के अधिकारों की सीमा को संकुचित करने के लिये बाध्य हुआ है। यदि ऐसा न हो और सब छड़ी घुमाने की अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करने लगें तो किसी एक की भी नाक सुरक्षित दिखाई न देगी। फलतः अपनी अपनी नाक की रक्षा के लिये ही अपने अपने अधिकार समाज के चरण में अर्पण कर देने पड़े हैं।

इस प्रकार यदि विचार करके देखा जाय तो ज्ञात होता है कि समाज और व्यक्ति के अधिकार एक सीमा तक अलग अलग होते हुए भी एक बिंदु पर जाकर मिल जाते है। अपनी नाक की रक्षा करने का मेरा अधिकार और मेरी नाक की रक्षा करने का समाज का अधिकार एक स्थान पर परस्पर में ही लय हो जाते हैं। इसी प्रकार दोनों के कर्तव्य भी अलग अलग होते हुए एक स्थानपर जाकर मिल जाते हैं। अपनी नाक की रक्षा के लिये दूसरे की नाक की रक्षा करना आवश्यक देखकर हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम छड़ी घुमाने की अपनी अक्षुण्ण स्वतंत्रता को परिमित कर दें। वहीं समाज का भी कर्तव्य है कि एक सीमा तक छड़ी घुमाने

के हमारे अधिकार की रक्षा करते हुए भी मेरी नाक बचाने के लिये एक विंदु पर अधिकार की अक्षुण्णता समाप्त कर दे। फलतः मनुष्य का सारा जीवन न केवल व्यक्तिगत है और न केवल समष्टिगत। वह एक सीमा तक व्यक्तिगत है तो उसके बाद दूसरी सीमा तक समष्टिगत भी है। दोनो के समन्वय और सामंजस्य पर ही दोनो का अस्तित्व है। दोनो की उपयोगिता दोनो के लिये है, दोनो दोनो का हित साधन करते हैं और दोनो दोनो के विकास तथा पूर्णता के लिये सचेष्ट रहते है। इसी मे अलग अलग उनकी भी पूर्णता और विकास है। व्यक्ति से समष्टि और समष्टि से ही व्यक्ति भी बनता है। ऐसी दशा में मनुष्य का जीवन कितना उलझा हुआ और जटिल हो जाता है, इसकी कल्पना कर लेना कठिन नही है। फिर कैसे संभव है कि मानवजीवन के यापन की विस्तृत योजना कोई उपस्थित कर सके। उसके कर्तव्यो की सीमा कितनी विस्तृत हो जाती है ? उसका व्यक्तिगत पारिवारिक, सामाजिक और मानवीय जीवन अधिकार और कर्तव्यो के तानेबाने से किस पेचीदगी के साथ बुना हुआ है, इसे देखकर बेचारे मनुष्य पर दया आती है। उपर्युक्त छोटे छोटे विभागो मे बँटा हुआ होने पर भी उसका जीवन सामूहिक रूप मे एक है। अलग अलग विभागो के कर्तव्य होने हुए भी यह कोई नही कह सकता कि व्यक्तिगत दृष्टि मे उसका कर्तव्य एक है और सामाजिक दृष्टि से बिलकुल दूसरा। साधारणतः व्यक्तिगत दृष्टि से भी उसके जिस कर्तव्य का निर्धारण होता है उसपर उसके सामाजिक या मानवीय जीवन की छाया भी रहती है। इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से उसके जिस कर्तव्य का निश्चय होता है उससे उसका व्यक्तिगत हिताहित भी संलग्न रहता है।

उदाहरणार्थ मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह नंगा होकर सड़क पर न नाचे। अवश्य ही सड़क पर नग्न नृत्य न करना या करना उसके व्यक्तिगत जीवन से ही सबंध रखता है और यदि उसने न नाचने का निश्चय किया है तो अपना व्यक्तिगत कर्तव्य समझकर ही किया है, पर स्पष्टतः उस पर सामाजिकता की छाप दिखाई देती है। समाज को उसका यह प्रकार ग्राह्य नही है अतः इस कारण भी उसे नगा होकर नाचना अपना व्यक्तिगत कर्तव्य निर्धारित करना पडा। चोरी न करो, असत्य न बोलो, व्यभिचार न करो, हत्या न करो आदि जितने भी साधारण कर्तव्य है वे मनुष्य के लिये व्यक्तिगत कर्तव्य हैं इसलिये कि चोरी करना अथवा असत्य संभाषण करना अनैतिक है, गौरवहीन है, भ्रष्ट है, मानवजीवन के विकास का बाधक है और असुंदर है। पर जहाँ ये बातें हैं वही यह भी है कि इन कार्यों से समाज में अव्यवस्था फैलेगी, उसका संघटन हिल उठेगा और सामाजिक जीवन का संचालन असंभव हो जायगा। स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यक्तिगत कर्तव्य मे भी सामाजिक कर्तव्य अथवा उसकी समाज बुद्धि मिली जुली है। इसी प्रकार सामाजिक कर्तव्य का एक उदाहरण भी ले लिया जाय। देश पर शत्रु ने आक्रमण कर दिया है। सामाजिक कर्तव्य की अपेक्षा है कि प्रत्येक व्यक्ति देश की, समाज की रक्षा के लिये जीवन तक की आहुति देने को तैयार हो जाय। पर विचार करो कि क्या इसमें केवल उसकी सामाजिक बुद्धि और सामूहिक चेतना ही एकमात्र कारण है जो उसके कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण कर रही है ? क्या शत्रु के आक्रमण से उसका

जीवन संकटापन्न नहीं हो जाता ? क्या उनकी रक्षा करने के लिये उसकी व्यक्तिगत चेतना उसे शत्रु का सामना करने के लिये कही भीतर ही भीतर उत्प्रेरित नहीं कर रही है ?

मै तो विवेचना करने पर स्पष्टतः इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि मनुष्य कर्तव्य का निर्धारण न केवल व्यक्तिगत दृष्टि से करता है और न केवल सामाजिक। अलग अलग क्षेत्र में उसका बँटवारा नही किया जा सकता। उसके सभी कर्तव्य व्यक्तिगत भी हैं और सामाजिक भी। उसके सारे जीवन पर दोनों का गहरा रग है जो मिलजुलकर एक हो गए है। उन्हें विलग करने की चेष्टा व्यर्थ है। आज का युवक, जो जीवन और जगत् मे प्रवेश करने जा रहा है, यह अच्छी तरह समझ ले कि उसके जटिल जीवन पर कर्तव्यों का उलझा हुआ महान् बोझ लदा हुआ है। जीवन संबधी इस तात्विक बात के सम्यक् ज्ञान तथा तदनुकूल आचरण को ही मैं चरित्र समझता हूँ। जिस व्यक्ति में यह भावना न हो उसे मैं चरित्रहीन मानता हूँ। कर्तव्याकर्तव्य तथा जीवन के संचालन की विस्तृत और तफसीलवार योजना भले ही न उपस्थित की जा सकती हो पर स्थूल रूप से यह सिद्धांत सरलता के साथ स्थिर किया जा सकता है कि जीवन के पहलुओं को सामने रखकर व्यक्ति जिस क्षण अपनी चेतना और भावुकता के द्वारा कर्तव्य का निर्धारण करता है और दृढ़ता तथा संकल्प के साथ उस कर्तव्य के परिचालन की चेष्टा करता है उसी क्षण वह अपने बड़े भारी कर्तव्य की ही पूर्ति कर देता है। यही है उसका चरित्र जो उसे मानव बनाता है। सुख दुःख, जय पराजय, सफलता असफलता, आशा निराशा के प्रभावों से यथासंभव अपने को अछूता रखते हुए अपने कर्तव्य की पूर्ति पर दृढ निश्चय के साथ संलग्न होना मानव का महान् चरित्र है जिसकी सृष्टि और उपलब्धि जीवन का सर्वोत्कृष्ट आयोजन है। कर्तव्य के क्षेत्र में सुख, दुख, जय, पराजय की विवेचना के लिये गुंजाइश भी नही रहती। कारण यह है कि कर्तव्य की प्रवृत्ति के मूल में केवल ज्ञान, विवेक अथवा विश्लेषण नहीं है। उसका मूल प्रेरक मानव मन की भावुकता है। मनुष्य में विवेक जिस प्रकार अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक जाग्रत है उसी प्रकार उसकी भावुकता भी अधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म है। पशु को यदि कोई पीड़ित करे तो वह चिल्लाने लगेगा पर कदाचित् अपने से इतर किसी दूसरे का क्लेश देखकर उसका कलेजा नही रोता। मनुष्य दूसरे के सुख दुःख की अनुभूति स्वयं करता है, किसी को भूखा देखकर दुःखी होता है और किसी को रुदन करते देखकर उसके नेत्रों में जल भर आता है। उसकी यह विशेषता उसकी भावुकता के अधिक विस्तार तथा सूक्ष्मता की द्योतक है। उसका भावात्मक अंश ही उसे कर्तव्य की ओर प्रेरित करता है।

वे आधार जिन पर मनुष्य कर्तव्यो का निर्माण करता है मूलतः भावात्मक ही होते हैं। मनुष्य को जगत् और प्रकृति के व्यापक विस्तार में जो सत्य झलकता है, जो सौंदर्य की आभा उसकी अंतश्चेतना को प्रभावित कर जाती है, उच्चता, पवित्रता तथा गौरव के जिस आभास की अनुभूति उसे हो जाती है वह विवेचनामूलक नहीं भावमूलक ही है। आदर्शो की स्थापना इन्ही अनुभूतियों पर अवलंबित है। ज्ञान और विवेक तो इस अनुभूति के गर्भ से ही उद्भूत होते हैं जो उसकी भावु-

कता को अधिक परिपुष्ट, परिष्कृत और परिमार्जित बनाते हैं। फलतः आदर्शों से उद्भूत उन्नत भावना और उसमें प्रवृत्त होने की इच्छा और चेष्टा ही कर्तव्य है जो मनुष्य को उच्च स्तर की ओर ले जाती है। जिन राष्ट्रों में चरित्र का यह विकास उनके व्यक्तियों मे सामूहिक रूप से हुआ है वे फले फूले और गौरवान्वित हुए है। जिनमे इसके अभाव के लक्षण प्रकट हुए है वे धीरे धीरे पतन की ओर अग्रसर हुए है और एक दिन नष्ट हो गए हैं। मैं भारतीय राष्ट्र के पतन और विघटन का एक बड़ा भारी कारण उसमें चरित्र का अभाव समझता हूँ। जब से यह विकार उत्पन्न हुआ यह देश और हमारा समाज तथा समाज का एक एक व्यक्ति गिरता गया है।

चरित्र की यह दुर्बलता व्यापक रूप मे न केवल सामाजिक वल्कि वैयक्तिक जीवन पर कुप्रभाव डालती है। व्यक्तियों या राष्ट्रों के चरित्र का अभाव केवल बड़ी बड़ी बातो मे नहीं पर जीवन संवधी छोटी छोटी बातो मे भी दिखाई देता है। मेरी तो धारणा है कि किसी व्यक्ति के चरित्र को भॉपने या उसे कसौटी पर कसने के लिये उसके जीवन की छोटी छोटी और तफसील की बातो की ओर ही देखना चाहिये। वहुधा लोग इसकी उपेक्षा करते हैं पर वास्तविक जॉच यहीं से हो सकती है। मनुष्य कैसे उठता बैठता है, कैसे रहता है, कैसे अपने सामान रखता है, कैसे दूसरों से व्यवहार करता है, कैसे अपने आश्रितों, सेवकों, मित्रों और कुटुंवी जनों से पेश आता है, प्रतिदिन के अपने कार्यों में किस प्रकार का परिचय देता है आदि बातों पर उसके चरित्र की छाया पड़ती रहती है। इस दृष्टि से भारत के लोगों के चरित्र पर सामूहिक रूप से दृष्टिपात करने पर जो जो दृश्य दिखाई देता है वह हमारे चारित्रिक ह्रास और पतन पर प्रकाश डालता है। जो गॅवार और अपढ कहे जाते हैं, जो शताब्दियो से दलित और शोषित हैं, जिनकी चेतना को कुंठित कर देने में कोई बात उठा नहीं रखी गई, उन्हें तो जाने दो पर आज इस देश के पठित समाज और विशेषकर राष्ट्र की आशा के आधार नवयुवकों के जीवन पर दृष्टिपात करो। कहाँ है उनमें आदर्शवादिता और कहाँ है कर्तव्यबुद्धि ? और तो और अपने साधारण जीवन को भी वे व्यवस्थित ढंग से बिताने मे समर्थ नहीं होते। अनुत्तरदायित्व तथा अनियंत्रण का ऐसा मूर्त रूप जल्दी दिखाई नहीं देता। निंदा या शिकायत की दृष्टि से मैं नहीं कहता पर इस देश में मानवजीवन की जो स्थिति हो गई है उसपर दुःखी होकर कहता हूँ कि युवकों में चरित्र का भीषण अभाव देखकर देश के और उनके जीवन के सबंध में भी निराशा होती है।

जेल में ही मुझे सुपठित युवकों के साथ रहने का अवसर मिला है। चौबीस घंटों के निरंतर साथ ने स्पष्ट दिखा दिया कि उनमें इन बातो का कितना कम ज्ञान है। उनकी कोठरियों में चले जाइए और वहाँ की अव्यवस्था देख लीजिए। कही पुस्तक पड़ी है तो कहीं प्रातःकाल के स्नान के समय की भीगी हुई धोती लपेटी हुई एक कोने में अपने भाग्य को रोती हुई सड रही है। कही पानी का घड़ा लुढ़का हुआ है तो कही चाय की प्याली औंधे मुँह पड़ी कलप रही है। कही बैठकर गप हाँकने लगे तो सारी रात ही बीत गई। ऊषा की लाली के साथ साथ सो गये तो बारह बजे उठते दिखाई दिए। भोजन की घंटी बज गई तो चट सिर में तेल पानी

लगाकर बाल फेर लिए और भोजन को बैठ गए। इस प्रकार की स्थिति साधारण रूप में तुम अपने तथा अपने समुदाय के लोगों के जीवन में पाओगे। न कार्य करने की क्षमता है, न व्यवस्थित जीवन है, न मुक्ताहारविहार है, न मुक्त चेष्टा है और न मुक्त स्वप्न है और न मुक्त आमोद! किसी कार्य की जिम्मेदारी हम उठा नहीं सकते। हम पर भरोसा ही नहीं किया जा सकता। किसी को कोई काम दे दिया जाय और वह उसे उठा ले तब भी यह विश्वास नहीं रहता कि काम हो ही जायगा। कैसे अपने बड़ों से व्यवहार करें और कैसा व्यवहार छोटों से करें, सामाजिक प्राणी होने के नाते दूसरों की सुविधा असुविधा का ध्यान किस सीमा तक रखें और किस प्रकार दूसरों की भावनाओं का आदर करें आदि छोटी छोटी बातों में जीवन का निकम्मा-पन स्पष्ट प्रकट दिखाई देता है।

व्यक्तिगत जीवन के इस निकम्मेपन ने सारे सामाजिक जीवन में भ्रष्टता भर दी है। यही तो कारण है कि हम सामाजिक प्राणी होते हुए भी सामाजिकता के गुणों से वञ्चित हैं। रेल के डिब्बे में बैठे लोगों को वहीं थूकते देख लो, सड़कों पर घर भर की गंदगी बटोरकर फेंकते भी निहार लो। यह ज्ञान ही नहीं रह गया है कि ये ट्रेनें और सड़कें अपनी ही हैं जिन्हें अपने घर की भाँति ही साफ सुथरा रखना हमारा काम है। यह ज्ञान हो कैसे? जब हम अपने मकानों को गंदा करते फिरते हैं तो ट्रेन और सड़क की स्मृति कहाँ रह सकती है? ऐसी छोटी बातों को गिनने लगूँ तो एक स्वतन्त्र ग्रंथ तैयार हो जा सकता है। इनकी ओर संकेतमात्र कर दिया है प्रश्न की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये। चरित्र का अभाव वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को नष्ट कर देता है। उसकी शून्यता के साथ साथ उचित अनुचित, नैतिक अनैतिक, कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक नष्ट हो जाता है। फिर तो 'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'। आदर्शों की पूजा और कर्तव्यों की ओर प्रवृत्त होना चरित्र से ही संभव है। जब वही न हो तो कौन कठिनाइयों का सामना करते हुए, अपने को होम कर देने के लिये तत्पर होकर महान् और कठोर कर्मपथ की ओर बढ़ने का साहस और उत्साह प्रकट करेगा? चरित्र का सृजन ही सुसंस्कृति का प्रथम सोपान है। उन्नति और विकास का वही साधन है। आदर्श के लिये, सत्य के लिये, सद्भाव और औचित्य के लिये कष्ट उठाने तथा आवश्यक हो तो बलि तक चढ़ जाने की प्रेरणा चरित्र ही प्रदान करता है।

जिस शिक्षा से चरित्र का उदय न हो वह शिक्षा भी निकम्मी, निर्जीव और व्यर्थ है। खेद है कि आज हमारे देश की शिक्षापद्धति में इसका भारी अभाव दिखाई देता है। कदाचित् जानबूझकर इसकी उपेक्षा की गई है क्योंकि चरित्रवान् की पराधीनता, दलन, शोषण और पतन असंभव है। चरित्रशील में न दीनता होगी न दैन्य, न मुफ्तखोरी होगी न आलस्य, न भय होगा न कायरता, न संकुचित स्वार्थ के लिये चाटुकारिता की प्रवृत्ति होगी और न असत्य तथा अनौचित्य को सहने का घृणित अभ्यास। आज की शिक्षा फैशनेबुल भले ही बना दे, शौकीनी तथा स्वपूजा की भावना भले ही भर दे, दिखावट और बनने की रुचि भले ही प्रदान कर दे, अपने ही सुख के लिये संसार को साधन समझने की चाह जरूर पैदा कर दे, उपयोगिता-वाद और उदरपूर्ति को जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाकर विवेक तथा सत्प्रवृत्तियों

का भले ही संहार कर दे पर इस देश के युवकों में तेजस्वी चरित्र का सचार नहीं कर सकती। मैंने समाचारपत्रों में कुछ महीने पूर्व एक संवाद पढ़ा था। मलाया प्राय-द्वीप के एक नवाब साहब कुछ वर्ष पूर्व इगलैंड गए हुए थे। उस समय युद्ध भीषण रूप से हो रहा था और लडन को जर्मन विमान वन वर्षा से उद्ध्वस्त कर रहे थे। नवाब साहब एक दिन एक होटल में पहुँचे जहाँ उन्होंने देखा कि दस ग्यारह साल की एक बालिका 'लिफ्ट' *का संचालन कर रही थी। लिफ्ट संचालन का काम दायित्वपूर्ण समझा जाता है। छोटी सी सुकुमार बालिका को यह कार्य करते देखकर नवाब साहब को आश्चर्य हुआ। उन्होंने उससे पूछा कि यह काम तुम करती हो या तुम्हारे पिता। बालिका ने उत्तर में कहा 'काम मेरे पिता करते हैं। पर कल रात की लंडन पर जो बमबाजी हुई उससे मेरा मकान नष्ट हो गया। पिताजी की मृत्यु हो गई और माँ घायल होकर अस्पताल में पड़ी है। केवल मैं निरापद बच गई। यह सोचकर कि पिताजी की मृत्यु के कारण इस काम में अड़चन होगी मैं प्रातःकाल इसे पूरा करने के लिये आ गई।'

बालिका का उत्तर कितना मार्मिक है। पर यह अंग्रेज जाति के चरित्र का द्योतक है। कर्तव्य के प्रति कैसी निष्ठा, कैसी दृढ़ता, कितना त्याग और कितना बोध भरा हुआ है। यह है चरित्र जिसके बल पर अंग्रेज जाति संसार की महती शक्ति के रूप में अवतीर्ण हुई है। हमारे देश में क्या इसकी कल्पना भी कोई कर सकता है? यह है अभाव जिसका अनुभव युवक को करना चाहिये। उसके परिहार का पुनीत कर्तव्य और चरित्र का विकास अपने में तथा देश में करने का उत्तरदायित्व युवक पर ही है। सामाजिक जीवन के लिये तो आवश्यक है ही व्यक्तिगत जीवन की सफलता और सौंदर्य भी इसी पर अवलंबित है। चरित्र के क्षेत्र की सीमा बड़ी विस्तृत है। साधारण रहन सहन और व्यवहार से लेकर सदाचार और उज्ज्वल आदर्शों के प्रति आस्था तक सब चरित्र की ही सीमा में आते हैं। आज जीविकोपार्जन की समस्या पठित युवक के सामने भारी समस्या हो गई है। उनकी बेकारी और दर दर की ठोकरें खाना रोमांचक हो गया है। आज के समाज में जीवन का संघर्ष कठोर हो गया है। इसमें निकम्मे, चरित्रहीन और अयोग्य लोगों के लिये कोई स्थान नहीं है। मैं मानता हूँ कि इस देश में परा-धीनता के कारण जीवनोपाय के साधनों की सीमा विघातक रूप से परिमित हो गई है पर इसके साथ साथ मै यह भी समझता हूँ कि जो थोड़े बहुत क्षेत्र है उनके लिये योग्य व्यक्तियों का अभाव भी दिखाई देता है। किसी प्रकार रटकर परीक्षा पास कर लेना अथवा ठाटबाट के परिधानों से अपने को सुशोभित कर लेना योग्यता का प्रमाण नहीं है। योग्यता वह है जिसमें कार्य करने की क्षमता के साथ साथ उत्तरदायित्व का बोध हो, जो काम उठाया जाय उसमे गौरव तथा आनंद की अनुभूति हो और जो किया जाय उसे सुचारु, सुंदर तथा उत्तम ढग से करने की चेष्टा हो। भीतर भी चेतना प्रबुद्ध हो और जो कर्तव्य समझकर अंगीकृत किया

† बिजली से परिचालित एक यंत्र जिसके द्वारा ऊँची इमारतों में लोग नीचे ऊपर बिना सीढ़ी के उतरते चढ़ते हैं।

गया है उसे पूरी शक्ति के साथ संपन्न करने का यत्न किया जाय। यह है योग्यता जिसका अभाव दिखाई देता है। वास्तव में इस अयोग्यता का कारण चरित्र की ही कमी है।

कर्म में कुशलता का ही नाम योग है, यह तो भगवान कृष्ण ने भी कहा है। कोई काम किया जाय पर कुशलता के साथ सुंदरता तथा आनंद के साथ किया जाय तो उसमें न केवल सजीवता आ जाती है बल्कि ऐसा करना मनुष्य के उज्ज्वल चरित्र का द्योतक है। मनुष्य की विशिष्टता और सभ्यता तथा सौंदर्य और महत्ता उसके वाह्य आडंबरों मे नही है। कोई कितने ही बहुमूल्य कपड़े बड़ी शान के साथ क्यों न पहिन ले, अपने स्वरूप को सौदर्यवर्द्धक पदार्थो से रँग चुंगकर कितना भी आकर्षक क्यो न बना ले, कितने बड़े ऐश्वर्य तथा संपत्ति का अधिकारी क्यों न हो तथा पुस्तकों को पढकर कितना बड़ा विद्वान् भी क्यो न हो जाय पर यदि उसमें कर्मकुशलता नही है तो वह भ्रष्टचरित्र है। ऐसे व्यक्ति का मूल्य जीवन में कुछ भी नही है। फलतः जीवन के छोटे से छोटे कार्य से लेकर महान कर्तव्यों तक में कुशल होना मनुष्य की भारी साध होनी चाहिए। यदि परिधान पहनते हो तो उसका बहुमूल्य होना आवश्यक नही है पर स्वच्छ, चुस्त और सुरुचिपूर्ण होना कुशलता का द्योतक है। इसी प्रकार कोई भी कार्य क्यो न हो मनुष्य की योग्यता उसकी इस बात से प्रकट होती है कि वह उस कार्य को कितनी सफलता, कुशलता और सुंदरता के साथ करता है। आज विदेशियों की और विशेषकर अंग्रेजों की नकल प्रत्येक वात में करना भारत के वायुमंडल में छा गया है। इसी में आधुनिकता और सभ्यता दिखाई देती है। किसी भी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी से बातें करते हुए स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर लोग सभ्यता का अर्थ इस नकल को ही समझते है। बात बात में 'कलचर्ड सोसाइटी' का नाम लिया जाता है। थोड़ी सी जिरह कीजिए और आपको ज्ञात हो जायगा कि अपरिपक्व बुद्धिवाले विचारे युवक की समझ में 'कलचर' का अर्थ है अंग्रेजी रहनसहन, अंग्रेजी वेषभूषा और अंग्रेजी विचारो तथा संस्कारो से प्रभावित जीवन का ढंग। ऐसे लोगों को वे 'कलचर्ड सोसाइटी' के लोग समझते हैं। यदि कोई युवती स्वच्छंद सिनेमा देखती है, लिपस्टिक, पाउडर तथा ऊँची एड़ी के जूतों का उपयोग करती है, अपने शरीर का अधिकांश अनावृत रखकर अवयवों के लावण्य का प्रदर्शन करती है तथा बिना किसी संकोच और शील के प्रतिदिन दर्जनों युवकों से कामशास्त्र से लेकर मोक्षशास्त्र तक बातें बेधड़क रूप से करती है और सब पर यह प्रभाव डाल देती है कि उसका प्रणय उसी व्यक्तिविशेष से है तो वह युवती 'कलचर्ड' कही जायगी। घरवालों की कठिन कमाई को सूट बूट और नेकटाई में फूँकनेवाले तथा तमाम भारतीय आदर्शो और अपने इतिहास तथा साहित्य से अनभिज्ञ होते हुए भी उसे गँवारू और दकियानूस कहनेवाले, मुँह में चुरट लगाए, टेढ़े चलनेवाले तथा मुँह फुलाकर अपने समान किसी को न सुंदर और न विद्वान् समझनेवाले नवयुवक 'कलचर्ड' हैं और दूसरे सब उनकी समझ में बुद्धू तथा लंठ और असभ्य हैं।

'कलचर' या सभ्यता के संबंध की यह भ्रांत धारणा आज की शिक्षापद्धति तथा देशके भयावने चारित्रिक पतन का ही परिणाम है। युवकों के समझ में

यह मोटी सी बात भी नही आती कि अंग्रेज जाति की महत्ता उसके इन बाह्याडंबरों में नहीं है। ये आडंबर तो वस्तुतः पश्चिम के विनाश के कारण हो रहे हैं। और उसके उस दूषित दृष्टिकोण से उद्भूत हुए है जो उस भूखंड के जीवन का संहार कर रहा है। पर इन आडंबरो के भीतर पश्चिम की जातियों का कुछ गुण छिपा हुआ है जो वास्तव में उनकी शक्ति और महत्ता का आधार है। वही है उनकी संस्कृति का सदाश और उत्तमाश ! यदि उनकी नकल करना ही है तो उस उत्तमांश की ही नकल करनी चाहिये। अंग्रेजों की दृढता, उनकी अनुशासनप्रियता, सामाजिक कर्तव्यों के प्रति उनकी जागरूकता, उनकी निर्भयता और सबसे बढ़कर कर्मकुशलता और कार्यक्षमता उनमे वह शक्ति उत्पन्न करती है जिसके बल पर वे जगत् का नेतृत्व करने की हिम्मत करते है। इस देश मे मुसलमानी राज्य की समाप्ति के समय डच आए, पोर्चुगीज आए, फरांसीसी आए और अंग्रेज आए। यहाँ के हिंदू और मुसलमान, जिन्हें अपनी अपनी पुरानी सभ्यता का दंभ था और अतीत के इतिहास पर गर्व था उपस्थित ही थे। पर शासनसत्ता पर अधिकार जमाने के संघर्ष में अंग्रेज बाजी मार ले गए। इस देश के अधिवासी तो मिटे ही पर युरोप की कुछ जातियाँ भी उनके सामने अखाड़े में पछाड़ खा गई। तत्कालीन इतिहास का अध्ययन करने पर इसके अनेक कारणों में बड़ा भारी कारण यह भी दिखाई देता है कि उन जातियों में न अंग्रेजो के समान अनुशासनप्रियता थी और न थी कार्यकुशलता। उनमें अपने ऊपर आए हुए उत्तरदायित्व को वहन करने और उसे पूरा करने का भाव ही नहीं था। परिणामतः वे पराजित हुई।

इस महायुद्ध में जहाँ हिटलरी चरण ने बहुतों के मस्तक पर पदाघात किया है, अंग्रेज अपनी नैसर्गिक दृढ़ता और कार्यक्षमता के बल पर ही बच गए है और संभवतः विजयी भी होते जा रहे है। अपने पड़ोसी जापान के इतिहास पर दृष्टि डालते ही उसकी उन्नति, उसकी शक्ति और उसकी सफलता का कारण उस राष्ट्र का महान चरित्र ही मालूम होता है। जापानियों की उग्र राष्ट्रवादिता तथा साम्राज्य-वादी लोलुपता की जितनी निंदा की जाय थोड़ी है पर उनकी अनुशासनप्रियता, कर्तव्य पर डटे रहने की भावना और जिसे उचित समझते हैं उसके लिये मर मिटने की चाह श्लाघनीय है जो उनकी महत्ता का रहस्य प्रकट करती है। इसी प्रकार प्राचीन राष्ट्रो के पतन के इतिहास की ओर देखो। बहुधा यह सत्य दिखाई देगा कि उनके पतन का कारण उनका चारित्रिक ह्रास भी रहा है। यह सत्य न केवल सामूहिक राष्ट्रीय जीवन पर लागू है बल्कि वैयक्तिक जीवन भी इससे बरी नहीं है। बरी हो भी कैसे सकता है ? अंततः व्यक्तियों से ही राष्ट्र बनते है। वे ही उसकी विराट काया के विधायक तत्व हैं। जिस प्रकार शारीरिक तत्वों के क्षय के साथ शरीर का नाश होता है उसी प्रकार व्यक्तियो के पतन के साथ साथ राष्ट्र भहराकर गिर जाते हैं।

खेद होता है यह देखकर कि उस देश में चरित्र का यह अभाव दिखाई देता है जिसने कदाचित् मानव जाति में सबसे प्रथम इसकी ओर ध्यान दिया था और उसके विकास के लिये दढ़तापूर्वक पहला कदम उठाया था। प्राचीन भारत की

संस्कृति की यह बड़ी भारी विशेषता रही है कि उसने विचारों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की पर आचरण के संबंध में, कर्तव्यों के संबंध में कठोर बंधन लगाए। संसार का सबसे बड़ा आचारप्रधान धर्म बौद्ध धर्म इसी देश से उद्भूत हुआ और कदाचित् उस समय उत्पन्न हुआ जब मानव जाति ने पृथ्वी के किसी खंड में इस ओर इतना अधिक ध्यान नहीं दिया था। भारत कोरा दार्शनिक नहीं रहा है। दुनियाँ भर के पुराने और आधुनिक दार्शनिकों और दार्शनिक पद्धतियों से इस देश के दार्शनिकों और पद्धति का जो महान् अंतर है वह यही है कि यहाँ के लोगों ने सत्य और आदर्श का जो स्वरूप निश्चित किया उसे केवल बौद्धिक विलास तथा मानसिक क्षेत्र तक ही परिमित नहीं रखा बल्कि उसे व्यावहारिक जीवन में ढालने की चेष्टा की और जीवन में उतारने का यत्न किया। आशय यह है कि इस देश ने जीवन के व्यवहार और उसके संचालन की ओर सदा विशेष रूप से ध्यान दिया था। यही कारण है कि स्मृतियों ने धर्म की सीमा में केवल धार्मिक अनुष्ठान को ही नहीं रखा बल्कि मनुष्य किस प्रकार समाज में व्यवहार करे, किस प्रकार उन विविध प्रकार के लोगों से जो उसके संपर्क में आते हैं बर्ते तथा किस प्रकार उन लोगों से पेश आए जो उसके निकट संबंधी हैं आदि बातों का भी समावेश कर दिया। फलतः देश के चरित्र की पूर्णता पर पुराने भारतीयों को इतना अभिमान था कि मनु बड़े गर्व से कहते हैं कि—'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः, स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।' अर्थात् इस देश में उत्पन्न अग्रजन्मा लोगों से पृथ्वी में सारी मानव जाति अपना अपना चरित्र सीखे। आज दुर्भाग्य से हमारे पास न कुछ गर्व करने लायक है और न हम कुछ सिखाने की क्षमता रखते हैं।

इस देश को और विशेषकर नवयुवकों को अपनी समीक्षा करनी होगी और कठोरतापूर्वक करनी होगी। उन्हें देखना होगा कि उनमें जो दुर्बलताएँ आ गई है, मोह, आलस्य, तम और अविवेक का जो उदय हो गया है, उसे विनष्ट करने के लिये वे क्या कर रहे हैं। यह पथ कठिन अवश्य है पर असाध्य नहीं है। जगत् में लेनिन, गाँधी, च्यांकाई शेक और जवाहरलाल ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं जो वैयक्तिक गुणों और चरित्र की महिमा सप्रमाण अकाट्य रूप से सिद्ध कर देती हैं। यह सच है कि सब युवक लेनिन, गाँधी नहीं हो सकते पर यह भी निर्विवाद है कि सब के सब मनुष्य अवश्य बन सकते हैं। मेरी आकांक्षा इतनी ही है। मनुष्य जाति में अवतरित होकर मानव बनने में सफलता प्राप्त कर लेना मेरी समझ में सबसे महती सिद्धि है। अपने जीवन का निर्माण करना बहुत कुछ मनुष्य के अपने हाथ में ही है। वही अपना सबसे बड़ा शत्रु है और वही सबसे बड़ा मित्र भी है। यह तथ्य समझ लेने पर जीवनयापन करने का मार्ग बहुत कुछ आप से आप स्पष्ट हो जाता है। अब मैं समझता हूँ कि इस धारा को यहीं रोक देना उचित होगा। आशा करता हूँ कि जीवन का संचालन करने में संक्षिप्त और सांकेतिक रूप से कही गई ये बातें भी कदाचित् तुम्हारे लिये सहायक सिद्ध होंगी।

तुम्हारा
**बाबू**

## १७

नैनी सेंट्रल जेल
ता०..............

प्रिय लालजी !

जीवन विताना अर्थात् रहना बड़ी भारी कला है जिसके ज्ञान का अभाव अधिकतर जीवितों मे दिखाई देता है । सुख दुःख, राग द्वेष, घृणा ईर्ष्या, काम क्रोध, आशा निराशा, लोभ स्वार्थ तथा मोह और अहंकार आदि मनोविकारो का यह जीवन आश्रयस्थल है । इसके सतत घातप्रतिघात से मानव जीवन विताड़ित रहता है । दूसरी ओर विवेक और जिज्ञासा, सेवा और त्याग, उत्सर्ग तथा समवेदन, सहायता करने तथा कष्ट उठाने की प्रवृत्ति, निःस्वार्थता तथा उदारता, सत्य पूजा तथा आदर्शवादिता आदि भाव निरंतर जीवन को प्रभावित करते रहते हैं । मनुष्य इन दोनो की अनुभूति करता रहता है । ये प्रवृत्तियाँ क्यो, कैसे और कहाँ उत्पन्न होती रहती है, इनका प्रभाव किसी मनुष्य पर एक प्रकार से और किसी दूसरे पर भिन्न प्रकार से क्यो होता रहता है, इनसे प्रभावित होकर एक एक प्रकार से और दूसरा दूसरे प्रकार से व्यवहार करता क्यो दिखाई देता है, ये जीवन के मूल में हैं या बाहर से प्रविष्ट हुई हैं, यदि मूल में हैं तो इनका संचरण उसमें किस स्रोत से हुआ है आदि अनेक प्रश्न है जिनका उत्तर अब तक मनुष्य को संतोषप्रद रूपसे नहीं मिला है । नहा कहा जा सकता कि उत्तर पाने में कभी वह समर्थ भी होगा या नहीं । कदाचित ये अमूर्त मनोवेग भौतिक शरीर के साथ लगे दिखाई देते हुए भी भौतिकता की सीमा से कही पार आश्रित हैं, जहाँ तक मनुष्य की सीमाबद्ध भौतिक बुद्धि और विवेचनात्मक शक्ति पहुँच ही नही पाती । शायद उसका कारण यह भी हो कि इनकी विवेचना करनेवाला मनुष्य और उसका मस्तिष्क अपने ही अंतःकरण का प्रतिबिंब है और वह अंतःकरण इन्ही प्रवृत्तियों से बना हुआ पदार्थ है । फिर वह मस्तिष्क जो इस अंतःकरण की ही छाया है अपनी विवेचना कैसे कर सकता है ? विवेचना के लिये विवेचनीय पदार्थ से विवेचक की सत्ता भिन्न होनी चाहिए । जब विवेचना, विवेचनीय और विवेचक सब एक ही हो फिर यह कार्य असंभवप्राय ही हो जायगा । फलतः मनुष्य अपने स्वरूप के संबंध में अज्ञान में ही है और कदाचित् पूर्ण ज्ञान उसे कभी न होगा । पर अज्ञान में रहना मनुष्य की ही विशेषता नहीं है । दूसरे जीवजंतु अपेक्षाकृत उससे अधिक अज्ञान में है । हाँ, मनुष्य की विशेषता यह अवश्य है कि वह अपने अज्ञान का ज्ञान रखता है और उससे परिचित है ।

फलतः यह देखते हुए कि इन प्रवृत्तियों के स्वरूप और उद्भव की जानकारी मनुष्य को पूर्ण रूप से नही है और यह जानते हुए कि उनकी जो शास्त्रीय विवेचना

अब तक हुई है उससे जीवन पर पड़नेवाले उनके प्रभाव में कोई फर्क नहीं पड़ता। उन्हें जहाँ की तहाँ छोड़कर इतना मान लेना ही उचित है कि मनुष्य उनके द्वारा आकृष्ट, विताड़ित और संचालित है। एक कदम और आगे जाकर यह भी मान लेना चहिए कि मनुष्य इन सद् और असद् वृत्तियों के संयोग का ही पुतला है। वह भले बुरे, अंधकार प्रकाश, दोनों से निर्मित जीव है और दोनों धाराएँ उसके जीवन को अपनी लहरों पर लहराती रहती है। दो परस्परविरोधी धाराओं में बहनेवाले का अपने जीवन को संचालित करना कितना कठिन और कितना दुःसाध्य है इसकी कल्पना कर लेना सरल है। इस स्थिति में भी उसकी गति का निर्वाह करना, जीवन को ढंग से ले चलना और रहना, बड़ी भारी कला नहीं तो और क्या है ? इस कला से अधिकतर लोग अपरिचित हो तो इसमें आश्चर्य नही। पूछा जा सकता है कि आखिर वह कला है क्या ? जीवन की कला इस बात में है कि इन अनिवार्य द्वंद्वों से आहत होते हुए भी मनुष्य अपने जीवन को अधिक सुखकर, शांत, सुरुचिपूर्ण तथा सुदर बनाने में सफल हो। मानता हूँ कि अपनी समस्त परिस्थितियों, प्रवृत्तियों तथा घटनाओ के प्रवाह को नियंत्रित करना मनुष्य के हाथ में दिखाई नही देता। न जाने कितनी दृष्ट तथा अदृष्ट शक्तियाँ अपनी चपेट मे उसे गेंद की भाँति इधर उधर ढुलकाया करती है। जीवन का अनुभव बताता है कि बहुधा सयोग ऐसा आ पडता है जब मनुष्य अनिच्छा रखते हुए भी और प्रयत्न करते हुए भी बलात् स्थितिविशेष में नियोजित कर दिया जाता है। उस समय यही मालूम होता है कि नियति का कोई चक्र है जो अपने वेग मे मनुष्य के धूर्रे उड़ाए दे रहा है। ऐसा भी अनुभव हुआ है कि विवेक द्वारा यह समझते हुए कि अमुक कर्म में प्रवृत्त न होना चाहिए मनुष्य उसमे प्रवृत्त हो जाता है। जीवन की ऐसी घटनाएँ निराशा का सृजन कर देती हैं पर जहाँ ये बातें देखता हूँ वहाँ भिन्न प्रकार की अनुभूति भी

यह पाता हूँ कि मनुष्य में संकल्प और प्रयत्न करने की स्वतंत्रता प्रकृति ने प्रदान कर दी है और दृढ़तापूर्वक उसके निमित्त संघर्ष करते रहने से और शनैः शनैः अभ्यास से मनुष्य बड़ी सीमा तक अपने सद् असद् रूप में सामंजस्य स्थापित कर लेता है। अनुभव बताता है कि मनुष्य यदि चाहे तो जीवन में बहुत कुछ रस का, सुख का, शांति का संचार स्वयं कर सकता है। जीवन के उचित ढंग, व्यवहार तथा विवेक के द्वारा वह परिस्थितियों से, ऐसी परिस्थितियों से भी जो प्रतिकूल दृष्टि-गोचर होती हैं—एक सीमा तक समझौता करने में समर्थ हो जाता है। अपने व्यवहार, ढंग और संकल्प से जहाँ वह जीवन को सरल बना सकता है वहीं गलत ढंग, गलत व्यवहार और संकल्प की दुर्बलता तथा प्रयत्न की कमी के कारण अनायास बहुत सा बखेड़ा, दुःख, क्षोभ और अशांति भी पैदा कर लेता है। समाज में रहकर तो परिस्थितियों से मेलमिलाप बढ़ाए बिना जीवन का संचालन दुष्कर ही है। अकसर तो मनुष्य की परिस्थितियो के वशीभूत होकर असत्य से भी समझौता करना पड़ता है। जिसे हम साधारण रूप में सभ्यता कहते है और सौजन्य के नाम से पुकारते हैं उस पर विचार कर देखा जाय तो वह विशुद्ध पाखंड के सिवा कुछ नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूप को जो जितनी सफलता और सरलता के साथ छिपा

सके वह उतना ही बड़ा सभ्य समझा जाता है। यदि मेरे हृदय मे किसी आदमी के प्रति घृणा है और वह व्यक्ति मेरे पास आता है तो सचाई की माँग तो यह है कि मैं उसपर अपना मनोभाव प्रकट कर दूँ और कह दूँ कि मुझे आप की सूरत से भी नफरत है। जिसे आज का संसार गँवार कहता है, जो अधिक पढ़ेलिखे नहीं हैं वे प्रायः सचाई का ही आश्रय लेते है क्योंकि पाखंड रचने की कला उनमे नही है। वे उस व्यक्ति पर अपने व्यवहार से अपना भाव प्रकट कर देंगे और तत्सम व्यवहार भी करेंगे। पर ऐसा करने के कारण ही वह उजड्ड तथा गँवार कहा जायगा। सौजन्य, सभ्यता और भलमसी तो यह समझी जाती है कि किसी व्यक्ति से घृणा करते हुए, किसी पर क्रोध रखते हुए हम अपने इन भावों को प्रकट न होने दे और वह व्यक्ति सामने आवे तो ऐसा ही व्यवहार करे मानो हम उसके परम मित्र है और उसका आदर करते है। 'आइए, आइए, आपने बड़ी कृपा की, कहिए क्या आज्ञा है, यथासंभव आपकी आज्ञा का पालन करने की चेष्टा करूँगा' आदि से ही उसका अभिवादन करना चाहिए क्योंकि यही सभ्यता समझी जाती है।

हम जो कह रहे हैं उसमें कुछ भी सचाई भले ही न हो और हम भीतर ही भीतर उससे जल रहे हों और चाहते हों कि किसी प्रकार यह भाड़ मे जाय, फिर भी व्यवहार उपर्युक्त ढंग से ही करेंगे। विचार करो कि क्या यह पाखंड नहीं है? क्या असत्य से ही मनुष्य समझौता नहीं करता? पर पाखंड हो या हो असत्य इस कला को अपनाना ही सभ्यता का लक्षण माना जाता है। यदि गहराई में उतरकर देखा जाय तो जीवन का अधिकतर समय इसी प्रकार असत्य आचरण मे ही बीतता है। जिसे सौजन्य और व्यवहारकुशलता कहते हैं उसमे अधिकतर पाखंड ही होता। एक दृष्टि से विचार किया जाय तो मानवजीवन हिमाचल की भाँति अति विशाल और महती असफलता के सिवा और कुछ नही है। मनुष्य ने अब तक जिन आदर्शों की स्थापना अपने लिये की है, जिन बड़े बड़े सिद्धांतो का प्रतिपादन किया है, जिन विशाल और पवित्र विचारपद्धतियों को जन्म दिया है उनकी कसौटी पर यदि साधारण रूप से उसके जीवन को कसा जाय तो उससे बढ़कर खोटा और निकम्मा तथा नकली पदार्थ दूसरा जगत् में नही मिल सकता। ऐसा मालूम होता है कि इन सिद्धांतों का जन्म समय समय पर आविर्भूत होनेवाली दैवी विभूतियों के जाग्रत और प्रबुद्ध व्यक्तियों के उत्तमांश से हो जाता है जिनके प्रति साधारण मानव की भक्ति और श्रद्धा बन जाती है। उनके प्रति आदर हो जाता है और मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अंश इन उन्नत सिद्धांतों की पवित्रता, महत्ता तथा वांछनीयता का भी अनुभव कर लेता है पर इससे अधिक उसका कोई प्रभाव नही होता। मनुष्य का व्यावहारिक स्वरूप बहुत कुछ वही रह जाता है जो अब तक रहता आया है। यही कारण है कि संस्कृति की गति और उसके विकास की तुलना में मानवजीवन की व्यावहारिक गति और विकास को हम कहीं अधिक पिछड़ा हुआ पाते है। जिसे संस्कृति कहते हैं उसके और जीवन के बीच की इस खाई का मुख्य कारण कदाचित् मनुष्य का वास्तविक स्वरूप ही है जो भला भी है, बुरा भी है। शायद बुराई और असद् की मात्रा ही उसमें अधिक है।

पर अपने इस स्वरूप का दर्शन हो जाने पर भी मुझे निराशा नही होती।

इसका कारण यह है कि जीवन की धारा में मुझे एक बड़ा भारी सत्य स्पष्ट दिखाई देता है। वह सत्य यह है कि सद् असद् से निर्मित मानव के अंतर में चेतन की एक ऐसी अखंड और अक्षय ज्योति जलती दिखाई देती है जो इन तमाम कठिनाइयों के रहते हुए भी मानव के सत् को असत् पर विजय प्राप्त करने के लिये उत्प्रेरित करती रही है। यह संघर्ष और चेतनोत्प्रेरण, यह प्रयत्न ही मनुष्य का सौंदर्य है जो हमारी आशा का आधारस्तंभ है। इसी के आधार पर यह कहने का साहस होता है कि मनुष्य परिस्थितियों पर काबू न रखते हुए भी अपने संकल्प और अपनी अंतर्शक्ति के द्वारा ऐसा ढग अपना सकता है जिसकी भित्ति पर वह जीवन को सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत और सरल बना ले सकता है। मेरा विश्वास है कि मनुष्य में यह शक्ति है कि जीवन के प्रति समुचित दृष्टिकोण और भाव ग्रहण कर सके। जैसा कि पहले किसी स्थान पर कह चुका हूँ मनुष्य की दुनियाँ बहुत कुछ उसके भावों की दुनिया है। कोई भी पदार्थ क्यों न हो और उसका स्वरूप भी चाहे कुछ भी क्यों न हो, व्यक्ति विशेष को वह जिस रूप में दिखाई देता है वह रूप बहुत कुछ उस व्यक्ति के भावों के रंग में ही रँगा होता है। नेत्रों पर जिस रंग का ऐनक होगा दुनियाँ उसी रंग में रँगी नजर आएगी। फलत: जीवन के प्रति भी जो भाव ग्रहण किया जाएगा वह उसी से प्रभावित दृष्टिगोचर होगा। यदि हम अपना भाव उदार, शांत, सहानुभूतिपूर्ण रखें तो जीवन में अधिक रस और सुख तथा शांति दिखाई देगी। विपरीत दृष्टिकोण अपनाया जाय तो शोक, दुःख और निराशा का साम्राज्य छा जायगा। मैं अपने मंतव्य को और स्पष्ट करना चाहता हूँ। जैसा कि कह चुका हूँ मनुष्य में भलाई और बुराई दोनों दिखाई देती है। इस विचारे प्राणी का यह प्रकृत रूप ही है। मुझे ऐसा भी भासता है कि बुराई की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का विकृत रूप ही अधिकतर सामने आता रहता है।

झूठ, पाखंड, क्रोध, स्वार्थ, ईर्ष्या, लिप्सा, अहंकार आदि का अनुभव जितना हम करते हैं तथा अपने संपर्क में आनेवाले लोगों को हम मनोविकारों से प्रेरित काम करते जितना पाते है उतना संवेदना, स्नेह, त्याग, तपस्या और उत्सर्ग तथा सेवा का प्रभाव दिखाई नहीं देता। हम देखते हैं कि अधिकतर लोग हमें धोखा देते है, अपना काम निकालने के लिये ठगने का यत्न करते है, अनुत्तरदायी होते हैं, गलतियाँ करते रहते है। तात्पर्य यह कि असद् प्रवृत्तियों का नर्तन और उनका प्रभाव जगत् में अपेक्षाकृत कहीं अधिक दिखाई देता है। जीवन के इस रूप के प्रति हम दो में से एक दृष्टिकोण ग्रहण कर सकते हैं। यदि हम मान यह लें कि मनुष्य बुरा है और जीवन बुराई से ही ओतप्रोत है तो उसका क्या परिणाम हमारे लिये होगा; इस प्रकार के दृष्टिकोणवालों को मैंने अपने जीवन को अशात, नीरस और क्षुब्ध करते देखा है। उनमें एक प्रकार की सर्वव्यापिनी घृणा और द्रोह का भाव उत्पन्न हो जाता है। वे जिधर देखते है उधर बुराई दिखाई देती है, फलत: असंतोष की भयावनी आग कलेजे में धधकने लगती है। सब पर संदेह और अविश्वास करना उन्हे स्वयं अशांत बना देता है। जब देखो तब दुनियाँ के ढंग पर रोते रहने के सिवा उनके जीवन का कोई दूसरा कार्यक्रम रह ही नहीं जाता। यह स्थिति उनके हृदय में विश्वद्रोह या नरद्रोह का सृजन कर देती हैं। फिर द्रोह से ही कलेजा भर उठे

तो कहाँ शांति और जब अशांति हो तो 'कुतः सुखम्'। जीवन के प्रति इस प्रकार का भाव ग्रहण करनेवाले संसार में कम नहीं है। अपने कुभाव के कारण ही वे अपना सारा जीवन दुःखमय बना लेते हैं। वे परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ होते है, फलतः सारा जगत् उन्हें मानो काट खाने के लिये दौड़ता दिखाई देता है।

पर एक और दृष्टिकोण भी है जिसका आश्रय लिया जा सकता है। मनुष्य यदि असद् है और बुरा है तो उसमें सद् भी है और भलाई भी है। अपने कुसंग के वशीभूत होकर वह बुराई कर जाता है। पर उसकी दुर्बलताओं, उसके अपराधों, उसकी त्रुटियों की ओर क्षोभ और घृणा की अपेक्षा क्षमा और उदारता का भाव क्यों न रखा जाय? यह भाव यदि अपना लिया जाय तो सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। अपराधी, कमजोर तथा त्रुटिपूर्ण मानव जीवन की ओर सहज ही मन में सहानुभूति और क्षमा का उदार भाव लहराने लगता है। फिर घृणा, द्रोह और शिकायत के लिये अधिक स्थान नहीं रहता। फलतः जीवन बहुत कुछ अशांति, असंतोष और क्षोभ से बच जाता है। उसमें अधिक सुंदरता और मानवता का प्रादुर्भाव होता है। मनुष्य के स्वरूप को वास्तविक रूप में समझ लेने के कारण परिस्थितियों से भी बहुत बड़े अंश में सामंजस्य स्थापित करने में सहायता मिलती है। ऐसे दृष्टिकोण को अपनाना न केवल संभव है प्रत्युत मेरी समझ में उचित भी है। मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह अपने को बड़ी सरलता और आसानी के साथ क्षमा कर दे। जो भूलें मुझसे होती है उन्हें मैं उदारतापूर्वक क्षमा कर देता हूँ। पर वही भूलें और वही त्रुटि दूसरे में देखकर मैं रुष्ट हो जाता हूँ। एक कहावत है कि अपनी आँख को शहतीर नहीं दिखाई देती पर दूसरे के नेत्र का तिनका भी स्पष्ट झलकता है। कोई कारण नहीं है कि मनुष्य अपने को क्षमा करता जाय पर दूसरे को दंड देने के लिये उतावला रहे। वही उदारता दूसरे के प्रति भी व्यवहृत की जा सकती है। फिर यह भी अनुभव की बात है कि मनुष्य न केवल बुरा होता है और न केवल भला। निर्दोष पदार्थ की सत्ता जगत् में कदाचित नहीं है। यह मोटी सी बात है। संभवतः सभी में कुछ न कुछ दोष अवश्य है।

मनुष्य भी इस नियम का अपवाद नहीं है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति जो एक स्थान पर राक्षस के तुल्य व्यवहार करता है, वही दूसरे स्थान पर देव सदृश दिखाई देता है। जो चोर है उसमें भी साव का अंश वर्तमान है और जो साव है वह भी कहीं न कहीं चोरी करता दिखाई देता है। जेल जीवन में तो इसका अनुभव बड़ी सरलता से होता है। उन व्यक्तियों को जो बाहर डकैत रहे है, दो दो, चार चार खून कर चुके है और आजन्म कारावास का दंड भोग रहे है, यहाँ मानवता के सुंदर प्रतीक के रूप में देखता हूँ। ऐसे अनेक बंदी हैं जो जघन्य अपराधी होते हुए भी अपने सहबंदियों के साथ ऐसी दया, ममता और उदारता का व्यवहार करते हैं कि आश्चर्य होता है। देखा है उनमें से किसी किसी को कि रुग्णबंदियों की सेवा में उन्होंने माता की भाँति रात को रात और दिन को दिन नहीं माना है। सोचता हूँ कि यही हृदय तो है जिसने हत्या करने में भी संकोच नहीं किया। जगत् का यही स्वरूप है। जीवन की गहराई में उतर कर विवेचना

करने पर यह बात स्पष्ट झलक जायगी। एक ओर एक मनुष्य उत्कट व्यभिचारी दिखाई देता है पर दूसरी ओर वही ऐसा नि.स्वार्थ त्याग करता प्रकट होता है कि बड़े बड़े भले लोग भी उसकी तुलना में नही टिकते। इस स्थिति मे सिवा इसके और कोई उचित भाव हो ही नही सकता कि हम मानव जीवन की ओर उदार दृष्टि रखें और हमारे हृदय का झुकाव यथासंभव क्षमा की ओर ही हो। इसके द्वारा हम जीवन के उस पाखंड और असत्य की मात्रा को भी कम नही तो बहुत कुछ परिष्कृत कर सकेंगे जिसकी चर्चा पूर्व के पृष्ठो में की गई है। व्यक्तिगत जीवन में इसका प्रभाव उसे अधिकाधिक सरल और आनंदमय बनाने की ओर ही होता। धीरे धीरे मनुष्य सद्प्रवृत्तियो की लीला अलिप्तभाव से देखने में समर्थ होता है और क्रमश: उनसे ऊँचे उठकर अपने अहं की सीमा के बंधन को खुलता हुआ अनुभव करने लगता है।

फलत: जीवनयापन के निमित्त और दूसरो के प्रति अपने व्यवहार के लिये एक स्थूल सा सिद्धांत यह अपनाया जा सकता है कि जीवन की ओर हम भरसक उदार दृष्टि रखने की चेष्टा करें। इसी प्रकार के एक और सिद्धांत का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। सामाजिक जीवन में जो बात सबसे अधिक प्रमुख और प्रधान होती है वह यह है कि हम दूसरो के साथ वर्ताव कैसा करते है। व्यवहार की महिमा ऐसी है कि जीवन की बहुत कुछ सफलता या असफलता उसपर अवलंबित है। मनुष्य की योग्यता, चतुरता, बौद्धिकता तथा धन और ऐश्वर्य भी सामाजिक जीवन मे वह सफलता प्रदान करने मे समर्थ नहीं होते जो मनुष्य की अपनी व्यवहार कुशलता प्रदान करती है। पर व्यवहार के लिये क्या कोई नियम हैं जिनके अनुकूल आचरण करने में ही कुशलता है? सौजन्य और सदाचरण के लिये समाज में प्रचलित और स्वीकृत ढंग तो है ही, इसके सिवा इस देश में तो उसे धर्म-शास्त्रियो ने अपनी स्मृतियों तक में स्थान प्रदान किया है और इस प्रकार उसे धर्म का अंग बना दिया है। पर मैं इन सबको छोड़कर केवल एक सिद्धांत का उल्लेख कर देना चाहता हूँ जो मेरी दृष्टि में आचरण का मार्ग बहुत दूर तक प्रदर्शित करता है। इतना ही नही बल्कि उससे जीवन की बहुत सी छोटी मोटी समस्याएँ भी हल हो जाती है। महाभारत में एक श्लोक है :—

**'श्रुयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चार्यावधार्यतां**
**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'।**

व्यासदेव कहते है कि धर्म का सार सुन लो और सुनकर दृढ़ता के साथ इसे धारण कर लो। जो बात अपने को अपने प्रतिकूल मालूम होती हो वैसा व्यवहार किसी दूसरे के साथ नहीं करना चाहिए।

बात इतनी स्पष्ट और सीधी है कि अधिक व्याख्या की आवश्यकता दिखाई नहीं देती। यदि मुझे यह पसंद नही है कि कोई मुझ से असत्य संभाषण करे, मुझे ठगने की चेष्टा करे, मुझ से घृणा करे, मेरा अपमान करे, मुझ से असौजन्य और उद्दंडता से पेश आवे तो मुझे भी चाहिए कि मैं दूसरे के प्रति ऐसा व्यवहार कभी न करूँ। मैं देखता हूँ कि यह सिद्धांत बहुत दूर तक बहुत सी समस्याओं को हल कर

देता है। शिष्टाचरण, सज्जनता और व्यवहारकुशलता के लिये दूर तक मार्ग निर्देश भी कर देता है। उपर्युक्त जिन दो साधारण सी बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है उन्हें मैं अपनी दृष्टि मे जीवनयापन के लिये दो व्यापक सिद्धांतों के रूप में देखता हूँ। मैं यह नही कहता कि जीवन ऐसी जटिल और उलझी हुई ग्रंथि को सुलझाने का उपाय इन दो बातो मे ही मिल जा सकता है। मानव सृष्टि का अकिंचन प्राणी होते हुए भी व्यापक और विशाल है। वह न जाने कितनी दृष्ट और अदृष्ट शक्तियो की क्रीड़ाभूमि और उनकी लीला का रगस्थल है। यद्यपि वह समस्त जड़ जगत् तथा अन्यान्य चेतन प्राणियो मे भिन्न दिखाई देता है, फिर भी उसके चतुर्दिक् का वातावरण उसकी स्थिति से पूर्णत संबंधित दृष्टिगोचर होता है। उनके अभाव में मानो उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। उसकी विशिष्टता यह कही जाती है कि वह इस नियमित भवप्रपंच पर आश्रित होते हुए भी अपनी स्वतत्र सत्ता रखता है। वह इसको सीमा से पार अनंत विश्वात्मा में अपने को लय कर देने की शक्ति रखने का दावा करता है। उसकी भौतिक और अभौतिक सीमाएँ कहाँ है, इसका पता पाना कठिन होता है। उसका व्यक्तित्व उसके शरीर के स्थूल भौतिक द्रव्यों से और उसकी सीमा से कहीं अधिक विस्तृत समझा जाता है। त्वचा और रक्तमांस के बंधनों में आबद्ध उसकी चेतना की गति अकल्पित है। अपने अमूर्त रूप में सारी पृथ्वी की परिक्रमा क्षणमात्र मे कर आनेवाले इस प्राणी के सामने दिक् और काल की जैसे कोई बिसात ही नहीं रहती। फलत: मनुष्य भी स्वयं मनुष्य के लिये समस्त समस्याओं का एक हल और जीवन के निर्देश का एक मार्ग बताने में असफल है। अपनी विशालता में ही वह अपनी लघुता का अनुभव भी कदाचित् करता रहता है।

अत: केवल दो बातें पेश करके कोई भी 'इदमित्थं' कह देने का दावा नहीं कर सकता, मेरा आशय ही यह रहा है। मेरा तात्पर्य तो केवल इतना है कि मैं अपने जीवन में इन दो दृष्टिकोणों को जीवनयापन के लिये अत्यधिक सहायक और निदर्शक पाता रहा हूँ। इन्हें संपूर्ण रूप से जीवन में ढाल लेने में असमर्थ होते हुए भी उसके लिये अपनी शक्तिभर यत्न करते रहने में मुझे न केवल तथ्य दिखाई पड़ा है बल्कि बहुधा मार्गावलंबन करने के लिये कर्त्तव्य का निर्धारण करने के लिये प्रकाश भी मिलता रहा है। इस अपने भाव तथा तज्जन्य अनुभूति को मैंने तुम्हारे सामने इस आशा और विश्वास के साथ रख दिया है कि इनसे जीवन संघर्ष में तुम्हें सहायता मिलेगी। मेरी यह कामना कि जीवन में तुम्हें सफलता मिले और उसके आवर्तो से तुम सफलतापूर्वक निकल जाओ इन पंक्तियो के लिखने की मूल उत्प्रेरिका यही है। पर मैं जानता हूँ कि केवल दूसरों को लिखना और बताना ही जीवन के प्रश्न को हल नहीं करता। मनुष्य का अपना अनुभव उसका सबसे बड़ा गुरु, सहायक और पथप्रदर्शक होता है। उसके द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व अपने को संपन्न करता है। अनुभवों से मिली शिक्षा जीवन की सबसे सजीव और तेजस्वी शिक्षा होती है। जैसे जैसे जीवन की यात्रा में बढ़ोगे वैसे वैसे अनुभव प्राप्त करोगे और वही आगे का मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त करता जायगा। पर अनुभव की प्राप्ति के लिये मनुष्य को अनेक कठिनाइयों और कष्टों के बीच से पार होना पड़ता है।

यथासंभव इन कष्टों से तुम बच सको, यह मेरी स्वाभाविक और सहज इच्छा होगी जिसके लिये ही अपने अनुभव सामने रख देना मेरे हृदय की पुकार थी। जीवन में कठिनाइयों का तार तो बँधा ही रहता है। बहुधा वे ऐसे समय आ धमकती हैं, जब उनके आने का रत्तीभर भी भान नही रहता। विचित्र और विभिन्न परिस्थितियों में विचित्र और विभिन्न प्रकार से उनका आगमन हो जाता है। विभिन्न समस्याओं का उपचार विभिन्न ढंग से मनुष्य को अपने विवेक और अनुभव के प्रकाश में करना पड़ता है।

स्मरण रखना कि जीवन की घटनाओं और समस्याओं का सामना दृढ़ता और धीरता के साथ करना ही एकमात्र उपाय है। कभी कभी कठिनाइयाँ मनुष्य के सारे जीवन को अपने अंधकार से आच्छन्न करती दिखाई देती है। कुछ लोग उनके बोझ के सामने घुटने टेक देते है और गौरवहीन ढग से व्यवहार करने लगते है। जिनमें साहस नहीं है, जिनमें आदर्शवादिता नही है और जिनके स्नायुतंतु तथा जिनका हृदय दुर्बल हैं वे पस्त होते दिखाई देते हैं। पर यदि वे थोड़ी धीरता, साहस और शांत मन से काम लेते तो निश्चय ही उन कठिनाइयो के भँवर से जीवन नैया को सफलता के साथ निकाल ले जाते। मेरा यही आग्रह है कि इस सत्य को सदा स्मरण रखना कि जहाँ मनुष्य है, वहाँ कठिनाइयाँ है और दोनों का द्वंद्व जीवन का अनिवार्य धर्म है। जो जीवन के इस रहस्यमय रूप को समझते है वे दृढ़ संकल्प के बल पर इन कठिनाइयो के विरुद्ध वीरता के साथ युद्ध करते रहते है। मानव जीवन का यही गौरवपूर्ण तथ्य है जो हमारी विरासत है। कहते है कि अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ थी 'न दैन्यं न पलायन'। न दीनता और न पलायन, बल्कि वीरता के साथ उनसे जूझना। यही तत्व की बात है। मैं समझता हूँ कि अब यह पत्र समाप्त कर देना चाहिए अधिक विस्तार बढ़ाना अपने को और तुमको भी थका देना है। बस !

तुम्हारा
बाबू

# १८

नैनी सेंट्रल जेल
ता०..........

प्रिय लालजी !

मेरे सामने भारत के युवकों के लिये सजीव और उज्ज्वल रूप मे एक आदर्श उपस्थित है। मेरे जीवन को उस आदर्श ने प्रभावित किया है। मुझे उस आदर्श मे आस्था है, उसके प्रति भक्ति है और गहरी निष्ठा है। इसी कारण मैं मानता हूँ कि इस देश के युवक समुदाय के सामने सामूहिक रूप में वह उपस्थित है जिसकी ओर बढना और जिससे अनुप्राणित होना उनका कर्तव्य है। उस आदर्श की सफलता के लिये भारतीय युवको में चरित्र का बल होना चाहिए, नैतिकता तथा मानवता होनी चाहिए तथा जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण और भाव होना चाहिए। मै समझता हूँ कि तभी उनमे उस शक्ति का सृजन होगा जो मेरे कल्पित आदर्श तक उन्हें ले जा सकेगी। उनके व्यक्तिगत जीवन के साथ साथ महान् मानव समुदाय का एक अंश होने के कारण उनको सामाजिक सत्ता भी है। उन दोनों को सार्थकता मै इसी में देख रहा हूँ। भारतीय युवक के सामने एक आदर्श है, उसके जीवन का एक विशेष लक्ष्य है, उसके सिर पर भारतीय होने के नाते विशेष उत्तर-दायित्व है, इसकी कल्पना करके मै इस निष्प्राण स्थान में भी रोमांचित हो उठता हूँ। आज मेरा मन बार बार कह रहा है कि मैं अपने हृदय की कल्पना को तुम्हारे सामने चित्रित करके रख देने की चेष्टा करूँ। मुझे ऐसा भास होता है कि मानवता के विकास के इतिहास में वह युग आ गया है जब उसे अपने ज्ञान, विवेक और अनु-भूतियो के आधार पर अपनी दुनियाँ की नई रचना करनी पड़ेगी। समय समय पर मनुष्य जाति की प्रगति के प्रवाह में ऐसे क्षण आए है जब उन्होंने युगांतर उपस्थित कर दिया है। उस काल में इस प्राणी ने नए अनुभूतियों और उपार्जित ज्ञान के आधार पर नए जगत् और नवजीवन की रचना की है। मानवता इसी गति से आगे बढती गई है। जगत् के सामने आज पुनः वैसा ही क्षण उपस्थित हुआ चाहता है। आज जिन भावों और दृष्टिकोणों को लेकर यह भूमंडल अपनी गति पर जा रहा है वह अब उसके विकास के पथ को कुंठित कर रहा है। मनुष्य को आगे बढाने के बजाय वे उसका पैर पकड़ कर उसे रोक रहे हैं। मनुष्य की नैसर्गिक प्रेरणा इस स्थिति को सहन नहीं कर सकती। गति उसका स्वभाव है। इस स्थिति में उसे उन तत्वों की खोज करनी पड़ेगी। जिनके प्रभाव के फलस्वरूप मनुष्य बढ़ने में असमर्थ हो रहा है।

विचारशील व्यक्ति देख रहे हैं कि उन तत्वों की खोज उग्र रूप से होने भी लगी है। मानव धीरे धीरे अनुभव कर रहा है कि यदि वह इस शोध में सफल न हुआ तो उसकी सारी जाति धरातल से लुप्त हो जायगी। उसकी सफलता पर ही तथा

जीवन और नई दुनियाँ का निर्माण निर्भर करता है, जो विकास की यात्रा के अनु-कूल होगा। भारत के सामने आज प्रश्न यह है कि क्या भारत उन तत्वों का दर्शन मनुष्यता को कराने में जगत् का कुछ सहायक हो सकता है जिसे पाना उसके अस्तित्व के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक हो गया है? मेरा कल्पनाशील हृदय कहता कि इस देश की पा मे वे अनमोल रत्न पड़े जिन्हें प्रदानकर हम जगत् की वर्तमान आवश्यकता पूर्ण करने में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते हैं। कदाचित् जगत् के आज के महारोग की ओषधि प्रदान करना भारत की शक्ति से परे नही है। फलतः मेरे सामने जो आदर्श उपस्थित होना है वह यही है कि नई दुनिया के निर्माण मे तथा मानवता को एक कदम और उच्च स्तर की ओर ले जाने में भारत को अपना गौरवपूर्ण प्रयास करना है। यह महान उत्तरदायित्व विशेष रूप से इस देश के नव-युवको पर है क्योंकि वे ही भविष्य के अग्रदूत हैं। उन्ही मे ओज, स्फूर्ति और प्राण है, उन्हीं में कल्पना, उत्प्रेरणा और भावुकता है, उन्ही में सृजन की शक्ति है और जो सड़ा गला, पुराना तथा भ्रष्ट और निकम्मा है उसे विचूर्ण करके धूल में मिला देने की सामर्थ्य है। संभव है, कोई मेरी इस कल्पना को आकाशकुसुम समझे, कोई कहे कि यह हवा मे किले बनाना है और कोई इसे 'छोटे मुँह बड़ी बात' बतावे। जो ऐसा करें उन्हें मैं दोष भी नही दे सकता क्योंकि शताब्दियों से पतित, चरित्रहीन और विदेशियो का चरण चाटनेवाले भारत के संबंध में सिवा इसके दूसरी कल्पना करना किसी के लिये भी कठिन है। पर इस स्थिति के रहते हुए भी मुझे अपने देश के भविष्य में विश्वास है। भविष्य के सिवा मुझे उसके अतीत में भी विश्वास है जिस पर मैं जब दृष्टिपात करता हूँ तब अपने भविष्य और अपनी शक्ति के संबंध में अपनी कल्पना को परिपुष्ट होता पाता हूँ। यहाँ की एकांत घड़ियों में पड़े पड़े जब पीछे की ओर मुड़कर देखता हूँ तो अपने अतीत के विस्तृत अंचल की उज्ज्वल किंतु झिलमिल आभा पर मुग्ध हो जाता हूँ। यह सच है कि जो बीत गया सो मृतक हो गया अतः उसके कंकाल से प्रेम करना मूढ़ता समझी जाती है। अवश्य ही अतीत यदि अनागत का मार्गावरोधन करे, कंकाल से चिपटे रहने की ओर झुकाव पैदा करे तो उसकी प्रेत छाया से बचने की चेष्टा मे ही कल्याण है पर अतीत यदि स्फुरण और प्रेरणा का साधन हो, यदि अपने गौरव तथा महत्ता से मार्ग का निदर्शन कर रहा हो तो उसका निरादर अतीत कहकर करना उससे भी बड़ी मूढता है। अतीत से हमारा प्रेम उससे चिपटे रहने के लिये नही, बल्कि इसलिये है कि उसमें भारत की वह ओजस्विनी तपस्या सजीव रूप से मूर्त हुई है जिस पर कोई राष्ट्र गर्व कर सकता है। मनुष्य यद्यपि वर्तमान में ही रहता है, फिर भी वह अतीत और अनागत से संबद्ध है। मनुष्य के शरीर में प्राणसंचार करनेवाले जीवाणु उसके शरीर में आने के पूर्व उसके माता पिता के शरीर में निवास करते रहते है। इस प्रकार हमारे रक्त में किसी सुदूर युग के हमारे पूर्वज का जीवन आज भी प्रवाहित है, इसे प्राणि-शास्त्र का विद्वान् स्वीकार करता है फलतः अविच्छेद्य और सजीव रूप से हम अपने, अतीत पर आश्रित है। अपने पूर्वजों के शरीरांश से ही नहीं बल्कि उनकी विशेष-ताओं, गुणों, दुर्बलताओं और सस्कारों से हमारा निर्माण हुआ है, जो युग युग से उनके रक्त की धारा के साथ हमारी धमनियों में बहता आ रहा है। इतिहास की परंपरा और उसके भार की उपेक्षा नही की जा सकती। होना केवल इतना

चाहिए कि हम अतीत का उपयोग उससे चिपटे रहने के लिये नहीं बल्कि अपने भविष्य की कल्पना, निर्धारण और निर्माण के लिये कर सकें।

आज जब मानवता के नवनिर्माण और उसके विकास का प्रश्न हमारे सामने है तब हमारी दृष्टि अनायास अपने अतीत पर चली जाती है। देखना है भारत की प्राचीन पुण्यभूमि को जिसे हजारों वर्षों तक मानवता का सफल नेतृत्व करने का गौरव प्राप्त हो चुका है। उसने उसके विकास में जो सहायता प्रदान की थी उसके लिये मानव समुदाय उसका चिर ऋणी रहेगा। समस्त मानव जाति किसी आरंभिक युग में शिकारी और फिरंदर जाति के रूप में रही होगी। उस समय आखेट करके पशुओं को मार लाना और उनके मांस से अपनी भूख शांत करना उसका पेशा रहा होगा। पशुओं सा जीवन, शिकारों की खोज में इधर उधर घूमना और गुफाओं में निवास उसके जीवन का ढंग रहा होगा। न जाने कितनी शताब्दियाँ इसी रूप में बीत गई होंगी। बाद में समय आया जब वह पशुपालक बना। पशुओं को पालना, उनका मांस खाना, उनके चरागाहों की खोज करना अब उसने जीवनोपाय बनाया होगा। शताब्दियों के बाद जंगली पेड़ पौधों को घरेलू बना लेने की कला का ज्ञान उसमें उदय हुआ। उस समय वह शिकारी और फिरंदरी युग से बहुत दूर निकल गया। वह तब कृषक बना होगा। खेती के साथ साथ उसने पशुपालन भी जारी रखा। पशुपालक की अवस्था में पशुओं के रूप में जंगम संपत्ति का जन्म तो हो ही गया होगा पर जब मनुष्य कृषक बना होगा तब स्थावर संपत्ति उदय हुई होगी। संपत्ति के इस उदय से समाज में स्थिरता आई होगी। मनुष्य समूह के साथ उर्वर प्रदेशों में बसने लगा होगा। उसने नदियों के तट की खोज की होगी। साथ मिलकर खेती करता रहा होगा। समाज के स्थिर होने पर व्यवस्था की आवश्यकता होती है। व्यवस्था से ही स्थिरता दृढ़ होती है। आवश्यक हुआ होगा कि अराजकता की स्थिति समाप्त की जाय। लोग अपनी संपत्ति की रक्षा कर सकें। सबल निर्धन को इस प्रकार न निगल जाय जैसे बड़ा मत्स्य छोटी मछलियों का भक्षण कर जाता है। फलतः आरंभिक व्यवस्था के लिये आरंभिक राज्य व्यवस्था की उत्पत्ति हुई होगी। तब मनुष्य ऊँचे स्तर पर पहुँच गया था। फलतः उसके बाद क्रमशः सभ्यता का विशेष विकास हुआ होगा।

मानव के आरंभिक इतिहास के संबंध में इसी प्रकार की कल्पना की जाती है। विद्वानों के मत से मनुष्य की अति आरंभिक व्यवस्था और सभ्यता का उदय हुए भी सात आठ हजार वर्ष से अधिक न हुआ होगा। यही उसकी आयु है और इन छः सहस्राब्दियों की तपस्या और साधना के बल पर आज मानव वहाँ पहुँचा है जहाँ स्थित दिखाई देता है। इन छः सहस्र वर्षों से भारत ने जो अभिनय किया है उसकी ओर देखकर कौन मुग्ध न होगा और कौन आदर के साथ उसके सम्मुख सिर न झुकावेगा? फिर भारतीय होने के नाते यदि हमारे हृदय में गौरव की अनुभूति हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इस देश में किसी आरंभिक काल में जब भूखंड के अधिकतर भागों के मानव निवासी अपनी आदिम स्थिति में पड़े हुए थे, महती संस्कृति का विकास हुआ। इस मूल स्रोत से सांस्कृतिक गंगा की अजस्रधारा सहस्राब्दियों तक प्रवाहित होती है, जो धरातल को अपनी पुनीत जलकणिका से

पावन करती रही। गंगा और सिंधु के दुकूलों में पहले पहल मानव चेतना ओज-स्विनी होकर सभ्यता का प्रजनन करने में सफल हुई। इन नदियों के बीच के मैदान जगत् के उर्वर प्रदेशों में है, जहाँ निवास करनेवाली एक जाति ने विकास की ओर पहला कदम उठाकर मानवता का पथप्रदर्शन किया। यह घटना अति पुरानी है। ईसा के जन्म से कम से कम तीन सहस्र वर्ष पूर्व और आज से प्राय: पाँच हजार वर्ष पहले भारत के अंतरिक्ष पर विकास के अरुणोदय की जीवनदायिनी सुंदर आभा झलक उठी। समूचे जगत् में उसका सामना करनेवाले और उसकी तुलना में टिकने-वाले केवल तीन प्रदेश अब तक मिले हैं। ऐसा मालूम होता है कि सभ्यता का उदय पहले पहल नदियों के सुंदर तटो पर ही होता रहा है। गंगा और सिंधु के तट के समान फारस की खाडी में गिरनेवाली दजला और फरात नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में भी उस समय एक उच्च संस्कृति विकसित हो रही थी। उसी काल में मिस्र की नील नदी के तट पर भी एक सभ्यता अंकुरित होकर पुष्पित और पल्लवित हो रही थी। उसी युग मे चीन की होयाँ हो और यांगच्येक्यांग के तट और मैदान मे भी विकास का पथ प्रशस्त करने मे एक समूह संलग्न था।

कहते है कि फारस की खाड़ी के उत्तर दजला और फरात नदियों के तटवर्ती प्रदेशों मे आज से प्राय. साढे पाँच हजार वर्ष पहले मानव सभ्यता का सूत्रपात हुआ। वहाँ के निवासी अब सुमेर या अक्कादी के नाम मे कहे जाते है, जिनकी दो प्रसिद्ध बस्तियाँ केगि और उर के नाम से विख्यात थीं। सुमेर कौन थे, यह अब तक निश्चित नहीं हो सका पर आज भूगर्भ से उनकी सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे सभ्य थे, अच्छे शिल्पी थे, उनकी नारियाँ सुंदर थी, भव्य भवन बनाना वे जानते थे, व्यवस्थित समाज था, व्यापार और उद्योग था। इसी समय मिस्र की नील के तट पर हामी वंश नामक मानव जाति सभ्यता का विकास कर रही थी। जिस समय उधर यह घटना हो रही थी उसी समय इस देश में मनुष्य वंश की आर्य नामक जाति महती सभ्यता का निर्माण करने में लगी हुई थी। ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व तो भारतीय आर्यों के दो शाख अर्थात् मनु का मानव वंश और पुरुरवा का ऐल वंश साथ साथ इस देश में राज्य कर रहा था जो इस बात का प्रमाण है कि शताब्दियों पूर्व से भारत की आर्य जाति विकास के उच्चस्तर पर पहुँच चुकी थी। तब से अर्थात् ईसा के जन्म से तीन सहस्र वर्ष पूर्व से लेकर कम से कम उनके जन्म की ६ शताब्दी बाद तक इस देश से उज्ज्वल सांस्कृतिक धारा बहती रही है जिसने समस्त मानवता के विकास के अंकुर का अपेक्षाकृत सबसे अधिक सिंचन किया है। छत्तीस सौ वर्षो के इस इतिहास की कहानी हमारे उज्ज्वल अतीत की गाथा है। उसके विस्तार में जाना इस पंक्तियो का लक्ष्य नहीं हो सकता। उसका न यहाँ स्थल है और न वह संगत ही है। पर उसकी उपेक्षा ऐसे समय मैं न कर सका जब जगत् की आज की स्थिति की ओर देखता हूँ। और जब अनुभव करता हूँ कि नव विश्व के निर्माण में भारत को अपना भाग पूरा करना है।

भारत में किसी समय जिस जीवन का विकास हुआ था वह कहीं कुंठित नहीं हो गया। उस जीवन ने संस्कृति के जिस स्तर को प्राप्त किया, जिन आदर्शों की स्थापना की और मानवता के सामने जो दृष्टिकोण रखा, वह सहस्रों वर्षो तक

दुनियाँ का नयन करने के बाद भी आज भारतीयता को और एशिया के अधिकतर निवासियों को प्रभावित कर रहा है। दूसरी किसी जाति ने उतने प्राचीन काल में किसी वाङ्मय और साहित्य की रचना नहीं की जब आर्य ऋषियों के हृदय में पहले-पहल उन्नत, ललित, भावपूर्ण और कवितामयी वाक्धारा बह निकली। ऋग्वेद आज जगत् का सबसे प्राचीन ग्रंथ है जिसके सूक्तों में सुसंस्कृत, भावुक तथा विचार और विवेक से पूर्ण हृदयों की अनुभूतियाँ मूर्त हुई हैं। आर्यों ने उज्ज्वल साहित्य का निर्माण किया, उन्नत समाज की रचना की, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सघटनों का न केवल उद्भव किया बल्कि उनके शास्त्र को ऐसा वैज्ञानिक रूप प्रदान किया जिसकी इतनी पुरानी मिसाल भी जगत् में नहीं है। उन्होंने ईसा के डेढ़ हजार पूर्व उस वैज्ञानिक, सम्पूर्ण और सर्वांगीण वर्णमाला को जन्म प्रदान किया जो आज भी ससार की सबसे पूर्ण वर्णमाला मानी जाती है। वर्ण-विज्ञान को उन्होंने शास्त्र का रूप प्रदान किया जिससे पठनपाठन सरल ढंग से होता था। हमारी वर्णमाला में ध्वनि का नाम ही चिह्न है और एक चिह्न की एक ही ध्वनि। दूसरे किसी देश की वर्णमाला [illegible] ऐसी पूर्ण नहीं। जगत् में उस वर्णमाला का प्रभाव आज भी [illegible] है। भारत की अनेक प्रांतीय भाषाओं में तो वह अक्षुण्ण रूप से बैठी हुई है ही पर भारत के बाहर भी उसकी सत्ता छाई हुई है। यहाँ की नागरी, गुजराती, बगला, शारदा और उड़िया तथा द्राविड़ी भाषाओं की तामिल, तेलगू, कनाड़ी और मलयालम आदि की वर्णमाला समान है। पर भारत के बाहर सिंहली, बर्मी, कंबुजी ओर कंबुजी से निकली, कैचग, कवि, लंचोग, बत्तक, बुगि मकस्सर आदि लिपियों और भाषाओं की वर्णमाला भी वही है। इन सब के सब वर्ण एक से है, स्वरों का क्रम और व्यंजनों का विभाग तथा स्वरों की मात्रा बनाने का नियम भी सब समान है। जो भेद है वह नाममात्र का। किसी समय अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन के सिमकियांग प्रांत तथा मलाया प्रायद्वीप के समूचे भूखंडों में आर्यों की प्रतिभा से उत्पन्न इस वर्णमाला का राज्य छाया हुआ था।

इस वर्णमाला ने भारतीय विचार और दृष्टिकोण तथा आदर्शों को अपने गर्भ मे लेकर भारत की सीमा के बाहर निवास करनेवाली मानव जाति को संस्कृति और विकास का संदेश प्रदान किया था। हिंदी, बॅगला, गुजराती, मराठी आदि को तो छोड़ दो क्योंकि ये सस्कृत से जो आर्यों की भाषा थी निकली ही हैं। उनके सिवा द्रविड़ भाषा में तेलगू, कनाड़ी, मलयालम आदि भी संस्कृत की शरण लेती हैं और इनका साहित्य आधे से अधिक संस्कृत शब्दो से गर्भित है। पर भारत की सीमा के बाहर सिंहल की सिंहली संस्कृत और पाली से परिपूर्ण है। स्यामी, बर्मी और कंबुजी भाषाओं ने संस्कृत से ही शब्दों को लिया है। तिब्बती का समूचा साहित्य संस्कृत का अनूदित साहित्य है। मंगोल भाषा ने यद्यपि भारतीय वर्णमाला नहीं अपनाई पर उसका प्राचीन साहित्य भारतीय साहित्य का अनुवाद है और उसकी भाषा में संस्कृत शब्दो की भरमार है। फलतः न केवल भारत की अनार्य जातियों को बल्कि भारत के बाहर का मानव समुदाय इस देश की वर्णमाला के द्वारा आर्य संस्कृति, साहित्य, विचार, भाव और दृष्टिकोण से प्रभावित हुआ। भारत की

वर्णमाला और भारत की लिपि ऐसी वस्तु थी जिसे आर्य प्रवासी सब जगह ले जाते, जिसके द्वारा असभ्य जातियों में जीवन की नवीन ज्योति पहुँचाते। असभ्य जातियाँ इस नए ज्ञान से दीक्षित होती, उनकी भाषा में वाङमय का विकास होता और धीरे धीरे वे जातियाँ और उनकी भाषा सभ्य हो जाती, जिस पर भारतीयता की छाप झलकती दिखाई देती। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारत की ब्राह्मी लिपि जगत् की सबसे पूर्ण और विज्ञानसंमत लिपि है। आज विद्वानों का यह मत है कि ब्राह्मी लिपि अति प्राचीन काल से चली आती है और ईसा से कम से कम डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व से अवश्य वर्तमान रही है। जायसवाल ऐसे प्राचीन भारत और उसकी सभ्यता के विद्वान् का तो यह कहना है कि वह वैदिक काल से चली आती है और इसके लिये वे वेदों के प्रमाण उपस्थित करते है। संसार की किसी सभ्य या असभ्य जाति ने जब लिखने की कला का आविष्कार नही किया था उस समय भी भारत के आर्यों ने समुन्नत लिपि को जन्म दिया था। पश्चिमी एशिया की प्राचीन सभी लिपि और उसकी शाखाएँ शेवाई तथा तोज की लिपियों का उद्भव ब्राह्मी से माना जाने लगा है। ये लिपियाँ जगत् की पुरातनतम लिपियों में है जिनका उद्भव ईसा से हजार वर्ष पूर्व अवश्य हो चुका था।

भारत के आर्यों के पास जगत् को देने के लिये संदेश था। उनकी उन्नत भाषा ने इस जीवन और इस जगत् के स्वरूप को अनुभूति की थी और उनके संबंध का आभास प्राप्त किया था। मानव जीवन का लक्ष्य, उसकी सृष्टि करने में प्रकृति के प्रयोजन की झलक कदाचित् उनके सामने चमक उठी थी। उन्हे सृष्टि के आधार मे उस चिरंतन चेतन की सत्ता का आभास मिला था जिसकी अभिव्यक्ति हो इस जीवन और जगत् के रूप मे मूर्त हुई है। उसके सत्य, शिव और सुंदर रूप का दर्शन आर्यों की प्रबुद्ध आत्मा करने में समर्थ हुई थी। मानव और गतिशील मानव उसी चेतन का अंश है जिसका साक्षात्कार करके अपने को परम सौंदर्य, परम सत्य और परम कल्याण में लय कर देना उसके जीवन की सार्थकता है। तत्वचिंतन की इस लहर का दिग्दर्शन उपनिषदो मे होता है जो सारी भारतीय सभ्यता और उसके विकास तथा उसके जीवन की बुनियाद के रूप में सहस्राब्दियों से वर्तमान है। इन आदर्शों की भित्ति पर ही भारतीय सभ्यता के शिल्पियों ने अपने भव्य भवन को गढ़कर निर्मित किया था। भारत के सारे जीवन के अंगप्रत्यंग पर इसकी छाया रही है। इन आदर्शों की ज्योति में ही उसने जीवन और जगत् की ओर देखा। फलतः उसकी सारी प्रवृत्ति के मूल में यही प्रेरणात्मिका भावना काम करती गई है। यही कारण है कि भारत जीवन को केवल भौतिक दृष्टि से नहीं देख सका। उसने उसे केवल अभौतिक दृष्टि से, आध्यात्मिक दृष्टि से भी नही देखा। उसकी विशेषता यह रही है कि उसने मानवता के और जगत् के तात्विक रूप को समझा कि सृष्टि के मूल मे जो चेतन है उसी की अभिव्यक्ति यह भौतिक जगत् है। एक ही तत्व का यह भी एक पहलू है। सत्य सत्य है ही पर सत्य का पहलू भी अपने पहलू के रूप में सत्य ही होगा, असत्य नहीं। फलतः मानव न केवल भौतिक है और न केवल अभौतिक पर दोनों है और दोनों का सामंजस्य ही और दोनों को एक ही पदार्थ के दो पहलू के रूप में देखना तत्व का वास्तविक साक्षात्कार है।

सक्षेप में प्राचीन आर्य दृष्टिकोण यही था और यही था संदेश। इसी के आधार पर आर्य सभ्यता विकसित हुई। उसके साहित्य के निर्माण में, उसकी कला और कविता में, उसके दर्शन और ज्ञान में, जीवन संबंधी उसके आचार और विचार मे, समाज के संघटन और विकास मे, उसके आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में मूल धारा यही बहती रही है। इस धारा से उसने अपने जीवन को ओतप्रोत कर देने की चेष्टा की। इस चेतना को और इसके साथ उदीयमान हुई अपनी संस्कृति को लेकर इस देश के धरातल को संदेश सुनाने की चेष्टा की। उत्तर भारत से आर्य ऋषियों और प्रचारकों तथा नेताओं का दल पहले भारत की समस्त आर्येतर जातियों को सभ्य बनाने के लिये बढा। दक्षिण मे आर्यों ने अपने उपनिवेश बनाए और राज्यों का स्थापन किया। यह क्रिया एक दिन में पूर्ण नही हुई। सहस्राब्दियाँ इस प्रयत्न में गुजर गई। आर्यों के उपनिवेश बसाने के ढंग घृणित न थे जो आज पश्चिम की श्वेत जातियाँ बरत रही है। वे भी सभ्यता और ईसाई धर्म के बहाने पृथ्वी की अश्वेत जातियों मे घूमती है पर उसके पीछे पीछे उनकी निष्ठुरता और स्वार्थपरता चलती जाती है। जिन भूखंडो मे वे गई वहाँ की मूल जाति को समूल नष्ट कर देने मे उन्हे संकोच न हुआ। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका आदि की अश्वेत नस्लो को समाप्त कर देने मे उन्होने कुछ न उठा रखा। प्राचीन आर्यों का ढंग यह घृणित ढग न था। उन्होने उपनिवेश बसाए, मूल जातियों में अपना सदेश फैलाया, उन्हे उन्नत और विकसित तथा सभ्य बनाया। सारे भारत को अपना संदेश देकर वे इस देश की सीमा के बाहर निकले। आज भारत के इतिहास का पट जब धीरे धीरे ऐतिहासिक खोजों और शोधो के द्वारा खुल रहा है तब हम यह पाते है कि लका और बर्मा, मलाया प्रायद्वीप और स्याम, जावा और सुमात्रा तथा इधर तिब्बत और चीन तथा मंगोलिया, अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक भारतीय प्रचारक गए, वहाँ उपनिवेश बसाए अथवा सदेश का प्रचार किया और असभ्य तथा आर्येतर जातियो को संस्कृति तथा जीवन के निर्माण मे सहायता प्रदान की। ईसवी सन् की पहिली और दूसरी शती तक तो भारतीय महासागर और मलाया के द्वीपपुज भारतीय उपनिवेशो मे ढँक गए थे और भारतीय बन चुके थे। सुमात्रा, जावा, अनाम आदि में सुदृढ़ भारतीय औपनिवेशिक राज्य स्थापित हो गए थे।

इधर मध्य एशिया तक भारतीय बस्तियाँ बसीं, वहाँ से सुदूर चीन और पश्चिमी एशिया, यूनान, मिस्र, रोम तक भारतीय स्वतंत्रता का संदेश पहुँच रहा था। भारत ने जगत् के सबसे महान् और लोकोत्तर पुरुष को ईसा के जन्म के ६ सौ वर्ष पूर्व अपने गर्भ से उत्पन्न किया था। बुद्ध ने जिस आचार प्रधान धर्म की शिक्षा मानवता को दी थी उससे एक समय जगत् का बड़ा भूभाग प्रभावित हुआ। इस धर्म की धारा को पकड़कर अशोक ने एक बार उस यूनान और मिस्र को भी प्रभावित किया जो आज यूरोप की सभ्यता का जनक समझा जाता है। भारत की सभ्यता का वह आकर्षण था जिसने मिस्र के यूनानी राजा टालेमी फिलाडेल्फस को भारतीय ग्रंथों का अनुवाद कराने और उसे सिकंदरिया के जगत्प्रसिद्ध पुस्तकालय में रखवाने के लिये उत्सुकता प्रदान की थी। फिलिस्तीन के जूड़िया नगर

में बौद्ध थेरों का विहार था जहाँ रहकर वे धर्म का प्रचार करते थे। उस समय फिलिस्तीन मे यहूदी धर्म का प्रसार था। बौद्ध थेरों का निवास फिलिस्तीन में अशोक के समय से ही आरभ हुआ था। वही ढाई सौ वर्ष वाद ईसा का जन्म हुआ। ईसा के जीवन और धर्म पर बौद्ध धर्म की गहरी छाप पडी थी, इसे साधारण रूप से आज स्वीकार किया जाता है। ईसाई धर्म की जन्मभूमि मे उसके जन्म के ढाई सौ वर्ष पूर्व बौद्धधर्म का प्रभाव और प्रकाश पहुँच चुका था। भारतीय व्यापारियों का पश्चिम की ओर आना जाना निर्विवाद रूप से सिद्ध हो रहा है। बेबिलोन और मिस्र की सभ्यता से भारतीय आर्यों का सपर्क तो था ही पर रोमन साम्राज्य के समय इस देश के व्यापारी जल मार्ग से भूमध्य सागर पारकर अतलांतक तक निकल जाते थे। जर्मनी के तट तक उनकी पहुँच हो गई थी। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वे अमेरिका और नार्वे तक चक्कर लगा आते थे! आज इतिहास साक्षी है कि भूमध्य सागर से लेकर जापान तक और साइबेरिया से लेकर जावा सुमात्रा तक कोई देश नही है जिस पर प्राचीन भारतीय धर्म, साहित्य या कला का प्रभाव न पड़ा हो।

यह तमाम प्रयास था इस देश का जगत् के विकास के लिये। जब मनुष्य अंधकार में था, जब उसे अपने जीवन की महत्ता का भान नहीं हुआ था पर जब प्रकृति की विकासधारा उसकी जाग्रति और चेतना की अपेक्षा कर रही थी, जब आवश्यक था इस भूतल को मानवता से परिप्लावित करके युगांतर उपस्थित कर देना, उस युग में सहस्राब्दियों तक इस बूढ़े भारत ने मनुष्य की सेवा की, उसका मार्ग प्रदर्शन किया। उदारता और सहिष्णुता उसके अस्त्र थे जिनके द्वारा उसने ज्ञात जगत् पर ज्ञान विजय और धर्म विजय करने की चेष्टा की। जिस यूनान की सभ्यता पर यूरोप गर्व करता है उसका जब उदय भी नही हुआ था, उसके प्रसिद्ध और आदरणीय दार्शनिको का पता भी नही था, उस समय सिकंदर से तीन सौ वर्ष पूर्व जगत् का प्रथम दार्शनिक कपिल इस देश में उत्पन्न हुआ और जगत् के सबसे बड़े धार्मिक महामानव बद्ध का उदय हुआ। जब यूनान के 'स्वतत्र नगरो' की स्थापना भी नहीं हुई थी, तब भारत में राजाहीन गणतंत्रो की संख्या एक दो नहीं दर्जनों थी, जिन्होंने आक्रमण के समय छक्के छुड़ा दिए थे और जिनसे विकल हो सिकंदर को भागना पड़ा। पर इस देश ने शस्त्र के वल पर न कभी धर्म फैलाया और न सभ्यता। उसने प्राणसहार के द्वारा भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति की चेष्टा ही कभी न की। उसमे सहिष्णुता थी जिसके बल पर बाहर से आनेवाली जातियों का भी आर्यीकरण कर डाला। यूनानी और पल्लव आए, ऋषक और तुखार आए, शक और हूण आए पर कौन आर्यधारा से बच सके? जो लुटेरे और विजेता बनने के लिये आये थे वे भी इस देश की महत्ता और सस्कृति के संमुख नतमस्तक होकर उसके चरणों मे लोटने लगे। इन लोगों ने भारत की संस्कृति को, उसके जीवन और ढंग को, उसके धर्म और विचार को, अपनाकर विशुद्ध भारतीयता का बाना पहिना।

आज अतीत की इस उज्ज्वलता का दर्शन मैं अपनी कोठरी में पड़े पड़े कर रहा हूँ। मैं अतीत का प्रेमी इसलिये नहीं हूँ कि मैं उसे वापस लाना चाहता हूँ। जो

बीत गया सो सदा के लिये बीत गया, प्रकृति के नियम के अनुसार। वयधर्म विकास के सिद्धांत का द्योतक है और वह धर्म ही जीवन तथा जगत् का मूल स्वभाव है। हमारे अतीत में सब दोषहीन ही था, यह दृष्टि प्रतिगामी तथा मूढ़तापूर्ण है। कोई भी मत मतांतर हों या सिद्धांत, अच्छे या बुरे होते हैं अपने गुण से। केवल पुराना होना किसी के गुण का द्योतक नहीं है। पुरानापन तो काल का धर्म है जिसमें अच्छाई या बुराई का कोई संबंध नहीं। कूड़ा करकट सदा रहता है और सदा रहेगा। फलतः मुझे अतीत को वापस बुलाना नहीं है पर उसके द्वारा जो स्फूर्ति और प्रेरणा तथा आत्मविश्वास प्राप्त होता है उसे ग्रहण क्यों न करूँ? आज उसपर दृष्टि डालने से यह विश्वास तो जगता है कि जिस देश ने एक दिन जगत् का नेतृत्व करने की क्षमता दिखाई थी वह अपना तथा संसार का नेतृत्व करने की शक्ति पुन. प्रदर्शित कर सकता है। हमारे सामने उस शक्ति की उपलब्धि और प्रदर्शन करना आज के आदर्श के रूप में उपस्थित है। विश्व को अपनी गोद में रखनेवाले वातावरण से आज युगांतर की गंध मिल रही है। जगत् की स्थिति भावी महाक्रांति का संकेत करा रही है। मानवता अपनी ही व्यवस्था, अपने बंधन और अपने वर्तमान आदर्श से उत्पीड़ित है। उसे नया मार्ग और नई व्यवस्था की खोज बाध्य होकर करनी पड़ेगी, अन्यथा वह पृथ्वी पर से मिट जायगी। जिन्हें उसके भविष्य मे विश्वास है वे विश्वास करते है कि इस विकलता की आग मे उसका वर्तमान कलुप भस्म हो जायगा और वह तपेतपाये सोने की भाँति उसमें से विशुद्ध होकर बाहर निकलेगी। युगांतर के इस संकेत मे भारत के सौभाग्य की भी सूचना है। संप्रति इस देश से अधिक पतित और उत्पीड़ित, शोषित और विकल दूसरा कौन है? अपने उज्ज्वल अतीत से हम जैसे परिचित हैं वैसे ही अपने भ्रष्ट और जघन्य वर्तमान से भी परिचित है। जानते है कि अतीत की सारी उज्ज्वलता लिए हुए भी हम ऐसे गिरे कि शताब्दियो से धरती की धूल चाट रहे है।

अच्छी तरह मालूम है कि एक युग आया जब भारत की पुरानी सजीवता और चेतना तथा जागरूकता नष्ट हो गयी। ज्ञान और प्राण की जो धारा उसके सांस्कृतिक जीवन में प्रवाहित थी उसका प्रवाह धीरे धीरे रुक गया। जातीय जीवन इस रसमयी धारा के रुकने से सूखने लगा और सूखकर जड़ हो गया। अपने उज्ज्वल आदर्श से हम भ्रष्ट हुए। जिस तेजस्विता ने हमे भारत की भौगोलिक सीमा के बाहर भेजकर सांस्कृतिक दूत बनने का श्रेय प्रदान किया था, जिस चेतना ने जीवन और जगत् के तात्विक रूप को उद्घाटित करने और समझने में सफलता प्राप्त की थी, जिस कुशलता ने सामाजिक जीवन को गढ़ने की क्षमता दिखाई थी वह सब उक्त प्रवाह के रुकने से मर मिटी। फिर तो प्राण को छोड़कर हम कंकाल से चिपटे। रूढ़ियों और अंधविश्वासो का उदय हुआ। आचारविचार और संस्कारों के भीतर जो भावात्मक और सप्राण दृष्टिकोण था उसे तो भूल गए पर उनके बंधनों को पकड़े रहने और कठोर करने में लग गए। राष्ट्रीय देह सड़ गया। हमारा गौरव मिटा सो मिटा, अब तो अस्तित्व भी खतरे मे है। इस स्थिति में युगांतर के आगमन के संकेत में हमारे सौभाग्य की सूचना भी दिखाई देती है बशर्ते कि हम आनेवाले

युग के अनुकूल बनने की क्षमता का विकास समय रहते कर लें। विश्वक्रांति से निर्मित् नव जगत् में भारत को स्थान प्राप्त करना है और प्राप्त कराना है, न केवल अपने उद्धार के लिये बल्कि सामूहिक रूप से मानवविकास में साहाय्य प्रदान करने के लिये, जिसमें मनुष्य का जीवन अधिक मानवीय और अधिक योग्यतम हो सके जिसे लेकर वह अपने प्रयोजन को सिद्ध कर सके।

भारत और विशेषकर उसका युवक इस महान् पथ का पथिक होने की शक्ति रखता है अथवा नहीं, इसका उत्तर उसे देना है। आज इस देश के यौवन की परीक्षा का समय है। यूरोप की नकल करने का और उसी की धारा मे बहने का समय बीत गया। समय था जब इस देश के चारित्रिक पतन की सीमा पहुँच गई थी, जब एक ओर हममें से कुछ अतीत को लेकर उसे ही वापस लाने के नाम को रो रहे थे और दूसरे, विशेषकर युवक, जो कुछ भी पुराना था उसे भ्रष्ट, गंदा और बर्बर समझकर यूरोप से जो आए उसे आँख मूँदकर ग्रहण कर लेने में अपना उद्धार समझते थे। दोनों ऐसे थे जो आत्मविश्वास से शून्य थे। एक समझना था कि सारे ज्ञान और समस्त आदर्शों, तथा तत्वों का जो भी अंतिम निदर्शन हो सकता था वह पहले ही हो चुका है। मनुष्य की चेतना और विकास की अंतिम घड़ी कदाचित् चार हजार वर्ष पूर्व ही समाप्त हो चुकी थी। ऐसे लोगों को न अपने में विश्वास था, न वर्तमान और न भविष्य में। विश्वास था और जड़ विश्वास था अतीत के शव मे जिसे सप्राण करना असंभव था। दूसरे वे थे जो उनसे कम अंधविश्वासी न थे। अपने को भूले हुए, सहस्राब्दियों के अपने इतिहास और संस्कार की उपेक्षा करनेवाले यह समझ बैठे थे कि पश्चिम को ही प्रकृति ने बुद्धि और ज्ञान का ठेका प्रदान कर दिया है। आँखे मूँदकर वहाँ से आनेवाले रत्न और कूड़ेकरकट को, अमृत और विष को, समान रूप से उदरस्थ करते चलो। उनकी अपनी चेतना, अपनी मौलिकता के लिये कोई स्थान न था। आज का युवक शेली और कीट्स, काँट और हेगल के बारे में अधूरा और थोथा ज्ञान भले रखता हो पर उसे कालिदास और भवभूति, कपिल और शंकर के बारे में कुछ भी पता नही है। अंग्रेजी लेखकों द्वारा लिखी जब वह कालिदास की प्रशंसात्मक आलोचना पढ़ता है तब इतना जान लेता है कि कालि-दास भी किसी जंतु का नाम था जो भारत में उत्पन्न हुआ था। दूसरों की चिल्लू से पानी पीनेवाले इन प्राणियों से भारत और जगत् का कौन सा कल्याण हो सकता था।

पर आज वह युग समाप्त हो रहा है। न पूर्व के अतीत ० ~ ज्ञान पूर्णरूप से केवल गड़ेरियों का ही ज्ञान था और न पश्चिम का विज्ञान ः ू र्ण रूपेण दिव्य दृष्टि तथा केवल दैवीभाव से ही परिपूर्ण है। स्वयं पश्चिम अनुभव कर रहा है कि उसके पास जो है वह पर्याप्त नहीं है। मानवता के लिये वह कल्याणकर है अथवा विनाशकारी यह महान् प्रश्न उसके सामने है जिसका उत्तर स्वयं जगत् की स्थिति दे रही है। उसकी ओर आँखें उठाकर देखिए तो सही। यह सच है कि विज्ञान ने प्रकृति के भौतिक रूप पर विजय प्राप्त की। उसने उसकी अपरिमित शक्ति का पता पा लिया और उसका उपयोग करने की क्षमता प्राप्त की। मानवता के इतिहास में आज से पूर्व कोई युग नही था जब मनुष्य ने प्रकृति को इस प्रकार

अपनी दासी बनाया हो। उसने भौतिक जगत् के रहस्यों का आवरण फाड़ फेंका और मनुष्य को वह गति प्रदान की जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। आज यह भूमंडल उसके चरणों के नीचे है जिसकी कोई भी भौगोलिक या प्राकृतिक बाधा उसका मार्ग नही अवरोधन कर सकती। उसने मनुष्य को जगत् के और जीवन के अंधकाराच्छन्न गुप्त प्रदेशों और विभागो को प्रकाश में लाकर देखने की शक्ति प्रदान कर दी। हमारे चर्मचक्षुओं से अदृश्य जो पदार्थ थे उन्हें भी उसने उनके गुह्य प्रदेशों से बाहर निकाल लिया। पृथ्वी के ऊपर और समुद्र के गर्भ का दर्शन हम कर सकते है, पहाड़ों की चोटियों और ग्रहो का रूप हमारे सामने आ जाता है। शून्य आकाश और जल, थल, पावक, समीर तथा जितने भी दृश्य पदार्थ है उनके खंड करके मनुष्य ने उनके प्रकृत रूप का दर्शन कर लिया। मनुष्य की सुंदर देह के भीतर असंख्य कोपां, स्नायुतंतुओं, जीवाणुओ की गति और प्रगति का निरीक्षण विज्ञान ने उसे करा दिया। उत्पादन के साधनों में उसने उसके लिये वह परिवर्तन कर दिया कि मनुष्य की शक्ति अपरिमित और अकल्पित रूप से बढ़ गई। रोगों और उनकी पीड़ा तथा भय से भी मनुष्य बहुत कुछ मुक्त हुआ। अंधविश्वास और रूढ़ियो तथा अज्ञान की जड़ उसने हिला दी। ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति को उसने अपनी सारी विभूति एक बार ही मानव की गोद में उड़ेल देने के लिये बाध्य किया। सैकड़ो विधियों से कुछ शताब्दियों में ही उसने मनुष्य को अधिक ज्ञानवान, अधिक निर्भय, अधिक ऐश्वर्यसंपन्न, अधिक गतिशील, अधिक शक्तिशील तथा अधिक व्यापक बना दिया।

सुदूर और निश्शब्द तथा एकांत गाँवों से निकलकर मनुष्य विशाल नगरों का निवासी हो गया, महती और गगनचुंबी अट्टालिकाओं में रहने लगा, अपने मन के अनुकूल गर्मी, सरदी तथा बरसात की कठिनाइयो को जब चाहे दूर करने में समर्थ हुआ। जब चाहे दिन को रात बना देने और रात को दिन बना देने की की शक्ति प्राप्त की। गर्द से, शोरगुल से, गमनागमन की दिक्कतो से वह जब चाहे मुक्त हो सकता है। आयास और श्रम से उसने इस प्रकार पिंड छुड़ा लिया कि आज न सीढ़ियो पर चढ़ने की आवश्यकता है और न पैदल चलने की। आज का साधारण मनुष्य जगत् के संबंध में इतनी जानकारी रखता है कि अतीत के कदाचित् बड़े बड़े मनीषी भी उतना न जानते रहे होंगे। घर में बैठे बैठे दीनदुनियाँ की हालत पढ़ सकता है, न्यूयार्क और लंदन की किसी गायिका के सुरीले स्वर का आनंद ले सकता है, रूस और जापान के लोगों के रहनसहन का प्रत्यक्ष ज्ञान चलते-फिरते चित्रों से प्राप्त कर सकता है। विज्ञान ने सबको जता दिया है कि शून्य दिक् वर्तुलाकार है तथा विश्व किन्ही अंध, अज्ञात तथा जड़ शक्तियो द्वारा सचालित है। अनंत और व्यवस्थित सृष्टिधारा में हमी नही किंतु यह भूमंडल भी एक अत्यंत लघु तथा अकिंचन बुलबुले के समान अकस्मात् उत्पन्न हो गया है और वह सृष्टि-धारा विराट, महती तथा असीम होते हुए भी चेतनाहीन तथा निष्प्राण है। साक्षरता का प्रसार बहुत है, मनुष्यों को रोगों से मुक्त करके अधिक सुंदर तथा सुरक्षित बनाने का प्रयत्न भी अपरिमित है तथा उसके ऐशआराम और विलास के साधन भी अकल्पित रूप से प्रस्तुत कर दिए गए है।

यह सब देन है विज्ञान की। उसे देखकर सहसा मुख से निकल जाता है कि मानवता आज जितनी उन्नत, जितनी सुखी, जितनी विकसित तथा परिपूर्ण है उतनी पहले कभी नहीं रही होगी। आज की स्थिति में न किसी को कष्ट होगा, न भय, न शोक और न आशंका। न अज्ञान होगा, न भूख, न दरिद्रता होगी और न पराधीनता तथा दैन्य। मनुष्य वस्तुतः जगत् का, प्रकृति का प्रभु हो गया है। पर अपने इस स्वरूप और अपनी सफलता पर फूला हुआ मनुष्य भी अधिक समय तक अपने को न उस स्थिति में रख पाता है और न आत्मवचन करने में समर्थ होता है। इस विज्ञान तथा तज्जन्य स्थिति और वातावरण को उसने अत्यंत प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया तथा उसके अभिनंदन के लिये उत्सुकता से आगे बढा। पर धीरे धीरे उसने देखा कि वस्तुस्थिति कुछ दूसरी ही है। एक ओर जहाँ जगत् के बाजार वैज्ञानिक साधनों द्वारा उत्पन्न पदार्थों से भरे पड़े हैं, जहाँ पृथ्वी की उर्वरता को बढाकर मनुष्य ने खाद्य सामग्रियों का अभूतपूर्व भंडार खड़ा कर छोड़ा है, वहीं दूसरी ओर दरिद्रता, अभाव और भूख से मानव समुदाय का अधिकांश त्राहि त्राहि कर रहा है। उसके आर्थिक सघटन विचूर्ण होते दिखाई देते है। इस संकट का सामना करने के लिये वह जितना प्रयत्न करता है उतनी ही समस्या बिगड़ती जाती है। पराधीनता और दैन्य का बोलबाला है। जिधर देखिए उधर दलन और शोषण तथा उत्पीड़न दिखाई देता है। पुराने नैतिक विचारों, धार्मिक विश्वासों का परित्याग, अंधविश्वास और रूढियों के नाम पर किया गया पर उसके स्थान पर उच्छृंखलता और स्वार्थपूजा के सिवा दूसरा कुछ स्थापित न हो सका— आचारव्यवहार में झूठ, रहनसहन में पाखंड, बातचीत मे असत्यपूजा, प्रोपगैंडा और प्रचार मे धोखेबाजी, स्त्री और पुरुष के संबध में भ्रष्टता, एकमात्र अव्यवस्था के और कुछ न रहा। विलासलिप्सा की पूर्ति के लिये जो साधन उपयोगी तथा आवश्यक हो उसका ग्रहण एकमात्र मनोवृत्ति और जीवन का लक्ष्य बन गया। इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति, बिना किसी संकोच और रुकावट के, संस्कृति का चिह्न तथा मानवप्रयास का ध्येय हो गया। परिणामतः वर्ग वर्ग का संघर्ष और तीव्र हो गया। एक का स्वार्थ दूसरे से अनिवार्यतः टकराने लगा जिसके फलस्वरूप वर्गहित और वर्गस्वार्थ ने प्रचंड रूप धारण किया। शासक और शासित का, मालिक और मजदूर का, व्यापारी और खरीददारों का स्वार्थ भिन्न होकर पारस्परिक द्वेष, घृणा तथा द्रोह का कारण हुआ। एक दूसरे से भयभीत और आशंकित होकर परस्पर को अविश्वासी और शत्रु समझने लगे। स्वार्थ की यह भावना उग्र और आक्रमणशील राष्ट्रीयता के रूप में उदय हुई। कौन जगत् का कितना अधिक दोहन अपने विलास की पूर्ति और स्वार्थ के साधन के लिये कर सकता है, यही प्रश्न मुख्य हो गया।

दुनियाँ के बाजारों पर अधिकार जमाने के लिये, किसी प्रदेश के मूल निवासियों की नस्ल का भी उन्मूलन करके उपनिवेश बसाने की उत्सुकता ने परस्पर प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की सृष्टि की। अपनी इस जघन्य पशु प्रवृत्ति को आवरित करने के लिये मनुष्य ने बड़े बड़े सिद्धांतों की शरण ली। देशप्रेम, राष्ट्रसेवा, सभ्यता का प्रचार, मानवता का विकास, निर्बलों की रक्षा, लोकतंत्र और स्वाधी-

नता की पूजा का राग अलापा जाने लगा। मनुष्य ने अपने ज्ञान का उपयोग इस पाखंड की रचना, तथा अन्य के निर्माण तथा प्रवंचना में ही किया। शून्य आकाश में आनेवाली स्वरलहरों में झूठ का ऐसा पुट है कि अंतरिक्ष उससे भर उठा है। आज उसका परिणाम भयावह हो रहा है। उसी विज्ञान का सहारा लेकर मनुष्य मनुष्य का भयानक संहार कर रहा है। कहा जाता है कि धर्म के नाम पर मध्ययुग में मनुष्य राक्षस बन कर मनुष्य का खून पीता था। वस्तुतः वह धर्म नहीं पाप था। पर धर्म के नाम पर जितना रक्त मानव जाति के इतिहास में अब तक न बहा होगा उससे कहीं अधिक वैज्ञानिक मनुष्य ने एक दो लड़ाइयों में ही बहा डाला। फिर इतनी नृशंसता? आसमान से आग बरसाकर नगर के नगर जला दिए जायँ, नर नारी, आबालवृद्ध, रोगी अपाहिज, दोषी निर्दोष सब समान रूप से मौत के घाट उतार दिए जायँ। पृथ्वी नररक्त और नरमुंडों से भर दी जाय और विनाश के विविध साधन फिर भी रोज रोज उन्नत होते चलें। इसी में रहकर विज्ञान की सार्थकता और इसे ही कह दिया जाता है सभ्यता, फिर यह सब दानवलीला होती है बड़े बड़े सिद्धान्तों के नाम पर। विज्ञान ने जो दिया है उसका उल्लेख ऊपर किया है पर यह भी तो उसी की देन है। इस देन के फलस्वरूप संभवतः पहली भेंट को ग्रहण करने के लिये मनुष्य रह ही नहीं जायगा।

स्पष्ट है कि विश्व की यह परिस्थिति प्रमाण है इस बात का कि पश्चिम की सभ्यता में आज कोई न कोई भारी कमी, महान् विकार तथा भयंकर त्रुटि है जिसका समय रहते यदि निराकरण न किया गया तो वह मानवता के प्रचंड विनाश का कारण हुए बिना न रहेगी। मानव के हाथ में विज्ञान उसी प्रकार खतरनाक हो गया है जिस प्रकार किसी बालक के हाथ में छुरा दे देना जिससे वह अपना ही अंग भंग कर सकता है। प्रश्न है जगत् के मनीषियों के संमुख कि वह त्रुटि है क्या? मेरे सामने इस प्रश्न का उत्तर सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट दिखाई देता है। जीवन से ही जगत् है अतः जगत् की समस्या को हल करना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब जीवन का साक्षात्कार, उसका ज्ञान, उसका दर्शन उसके प्रकृत रूप में किया जाय। मानव में एक अंश यदि पशुतामूलक है अथवा उसका कृष्णांश है तो उसमें प्रकृति ने शुभ्रांश भी प्रदान किया है। द्वंद्वात्मक व्यक्तित्व से निर्मित इस प्राणी के उत्तमांश को जाग्रत करने में ही जगत् का कल्याण है। अनुभव से सिद्ध है कि मानव का कृष्णांश प्रबल है। वह लोभ, वासना, अहंकार और भौतिकता की पूजा में रत रहने की ओर ही अधिक झुकता है। पर उसका नैसर्गिक उत्तमांश जाग्रत होकर उसका नियमन कर सकता है, यह भी अनुभव से सिद्ध है। फलतः जगत् को अधिकतर सुखकर और श्रेयस्कर बनाने के लिये मनुष्य के उत्तमांश और शुभ्रांश को जाग्रत् करके उसे बदलने की चेष्टा करना ही एकमात्र उपाय है। केवल सुखकर परिस्थितियों के निर्माण से तबतक जगत् मूलतः सुखी नहीं हो सकता जबतक मानवजीवन बदल न दिया जाय। मनुष्य अहं और स्वार्थ के पुतले के रूप में छोड़ दिया जाय तो वह सारी परिस्थिति और विभूति दुरुपयुक्त होगी जो समाज के लिये वरदान हो सकती है। मनुष्य की उन्नति और विकास, धन और ऐश्वर्य में नहीं है बल्कि उसके उत्तमांश को जाग्रत करने में है। आधुनिक सभ्यता आज

अपने को संकट की स्थिति में पा रही है क्योंकि उसका निर्माण किया गया मनुष्य के प्रकृत स्वरूप को बिना समझे हुए और बिना जाने हुए। थोड़े से जिज्ञासु और सत्य के शोधक वैज्ञानिक तपस्वियों की साधना के फलस्वरूप हुए वैज्ञानिक आविष्कारों से उस सभ्यता का उद्भव हुआ और यद्यपि सामूहिक रूप से मनुष्य के यत्न से वह निर्मित हुई पर मनुष्य के स्वरूप और विस्तार से उसका सामंजस्य स्थापित न किया जा सका। स्पष्ट है कि विज्ञान किसी आयोजित योजना का अनुगमन नहीं करता। उसकी उन्नति अकल्पित कारणों से होती है। किसी प्रतिभाशील व्यक्ति की चेतना, उसकी जिज्ञासा, सत्य की खोज के लिये किसी दिशा की ओर उसका उत्प्रेरित हो जाना, आदि ऐसे कारण है जिन पर उसकी उन्नति अवलंबित है। वैज्ञानिक अपनी खोज मूलत: इस दृष्टि को लेकर नहीं करता कि उसके द्वारा वह समाज और व्यक्तियों की स्थिति को उन्नत बनाना चाहता है। वह यह नहीं जानता कि वह कहाँ जा रहा है और सत्य के जिस स्वरूप को जगत् के सामने रखेगा वह उसे ले कहाँ जायगा। प्रत्येक वैज्ञानिक अपनी अलग दुनियाँ मे रहता है और अपनी सूक्ष्म दृष्टि से एक प्रकार की दिव्य उत्प्रेरणा की स्थिति मे अपने पथ पर चला जाता है।

विज्ञान के विशाल भंडार से मनुष्य ने कुछ अंश चुन लिए। यह चुनाव मानवता के व्यापक हित की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्ति के अनुसार हुआ। अधिक से अधिक सुविधा, सुख, भोग, विलास और कल्पनाओं की पूर्ति में जो जितना अधिक सफल तथा समर्थ हो वह आविष्कार उतना ही वांछनीय और ग्राह्य हो गया। मनुष्य की इस प्रवृत्ति को विज्ञान की पद्धति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने और अधिक उत्तेजना प्रदान किया। विज्ञान ने अपने विवेचन और निरीक्षण के क्षेत्र में जड़ भौतिकता को प्रामुख्य प्रदान किया। वह पद्धति उसी पदार्थ की आलोचना, विवेचना और ज्ञान प्राप्त कर सकती है जो स्थूल हो, जो प्रयोगशाला में अध्ययन का विषय बनाया जा सकता हो। विज्ञान का दृष्टिकोण मूलत: भौतिक है, फलत: उस पर आश्रित सभ्यता ने भी भौतिक भाव ही को अवलंबित किया। निर्जीव मशीनों के कल पुर्जो पर स्थापित सभ्यता ने जीवन को भी यंत्र के ही रूप मे देखा। मनुष्य केवल उत्पादन और सोने का संग्रह करने का साधन-मात्र रह गया। लोहा, आग, भाप पर आश्रित संस्कृति मानव हृदय में लोहे की कठोरता, अग्नि की ज्वाला और भाप का अंधकार भर देने का कारण हुई। जीवन का जो अंश भौतिक है वह सत्य हो गया और जो अभौतिक है उसकी सत्ता भी अस्वीकार कर दी गई। वह यह भूल गया कि मनुष्य का उत्तमांश भी है जिसकी उपेक्षा करने से केवल उसका विकृत और हेय अंश ही बच रहेगा। यदि उसी अंश को प्रभुता प्रदान करके जीवन के संचालन का अधिकार दे दिया गया तो फिर प्राप्त नई शक्ति द्वारा वह उस भयंकर दैत्य के समान स्वच्छंद होकर आचरण करेगा जिसकी कल्पना मात्र से कलेजा काँप उठता है। जिन परिस्थितियों और वातावरण की उत्पत्ति इसके फलस्वरूप हुई उससे मनुष्य अपना सामजस्य स्थापित कर सका। विज्ञान ने उसकी शक्ति भले ही बढ़ा दी हो पर उसके विवेक को उस मात्रा में विकसित करने में समर्थ न हुआ क्योंकि भूतो और चेतना से मिश्रित प्राणी के दोनों

पहलुओं में से उसने उसके उत्तमांश की गहरी उपेक्षा की । जगत् के मुट्ठी भर महान् मस्तिष्कवान् व्यक्ति, जिनकी तपस्या के फलस्वरूप इस सभ्यता का उद्भव और विकास हो रहा है, मनुष्य के जीवन का उत्तरदायित्व उठाने से अस्वीकार करते है। वे साधारण जीवन के घात-प्रतिघात से अलग होकर सुदृढ़ शब्दों में इस बात की घोषणा करते है कि उनके आविष्कारों का मानव समाज पर क्या प्रभाव हुआ है अथवा मनुष्य उनका उपयोग किस प्रकार कर रहा है इससे उन्हें कोई मतलब नही है । विज्ञान नैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से निरपेक्ष है अतः उनका यह काम नही है कि वे इसकी चिंता करें कि मनुष्य उनके प्रयत्नों से कौन खेल खेल रहा है । फलतः जो जगत् के आधुनिक ऋषि हैं वे इस बात पर कोई प्रकाश नही डालते कि जीवन का लक्ष्य क्या है, मनुष्य जीवनयापन किस प्रकार करे तथा उसका समूचा स्वरूप वस्तुतः कैसा है ? परिणाम यह हुआ कि जो वैज्ञानिक आविष्कार जगत् को अधिक समुन्नत और सुखी बना सकते थे वे ही उसके लिये अभिशाप हो रहे हैं । इसमें दोष आविष्कारों का नही है बल्कि दोष है उनका दुरुपयोग करनेवाले मानव का। यदि मनुष्य उनका सदुपयोग करना जानता होता तो जगत् का स्वरूप ही दूसरा हुआ होता। साधारण मनुष्य की साधारण बुद्धि यह अपेक्षा करती है कि कोई उसे निश्चित रूप से बता दे कि उसे करना क्या चाहिए और क्या न करना चाहिए । वह स्वयं विधि-निषेध का निर्वाचन करने के पचड़े में पड़ने की क्षमता नहीं रखती पर इतना जरूर चाहती है कि उसे कोई निर्णीत तथा निश्चित मार्ग बता दे । आज वैज्ञानिक आविष्कारों की विभूति तो प्रदान की गई पर उसका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसके लिये मानव दीक्षित नही किया गया । जो पुराने नैतिक और धार्मिक नियम थे उनका उन्मूलन तो हो गया पर कर्तव्याकर्तव्य के नए भवन का निर्माण नही किया जा सका ।

विज्ञान ने मोहाछन्न मानव के हृदय से धार्मिक विश्वास, नैतिक बंधन तथा जीवन मे जिन आदर्शो का मूल्य था और जिनके प्रति आस्था थी उन्हें मिटा देने में सफलता अवश्य प्राप्त की क्योंकि विशुद्ध भौतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती । संशय उसने उत्पन्न कर दिया, जो था उसे मिटा दिया पर उसके स्थान पर रह गया मनुष्य का केवल स्वार्थ और इस जीवन की भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की एकमात्र कामना । फलतः आज की सभ्यता की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि उसने जीवन और जगत् के प्रति एकमात्र भौतिक भाव को अपना लिया । मनुष्य केवल भौतिक प्राणी नहीं है यह स्पष्ट है। भौतिक रूप में इस जगत् की सत्ता उसके लिये अवश्य है पर इसके साथ ही उसके भाव उसके लिये इस दुनियाँ को नए नए रूपों मे रँगते भी रहते हैं। स्थूल जगत् में भौतिक तत्वों के साथ साथ उसको चेतना न जाने किन अलौकिक तत्वों की अनुभूति भी कराती रहती है । हमारी सारी अनुभूतियाँ चाहे वे वैज्ञानिक की हों अथवा कल्पना-काश मे उड़ते हुए कवि की, अथवा प्रेम से विह्वल एक प्रेमी की, समान रूप से सत्य हैं । ऊषा की अरुणाभा में भौतिक विज्ञान के विद्वान् को विद्युत् चुंबकीय प्रकाश की जो किरणें दिखाई देती है वे उतनी ही सत्य है जितनी किसी कवि के हृदय की

वह भावुकता जो उसे विमोहक लालिमा में प्रियतम के दर्शन के लिये जाती हुई किसी युवती के मुखपर नाचती लज्जा की अनुभूति कराती है। ऊषा की आभा मे प्रकाश की किरणों की लंबाई चौड़ाई का दर्शन और कविहृदय की अनुभूति दोनों ही मनुष्य के जीवन के दो पहलू है जिनमे से एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य जगत् की भौतिक सीमा से आबद्ध होते हुए भी उससे कही अधिक परे है। वृक्ष और पहाड़, नदियाँ और समुद्र, इंद्रियाँ और उनके रस, उसकी दुनियाँ में है और उसपर अपना प्रभाव रखते है। इनसे उसका केवल भौतिक संबंध भी है। वह वृक्ष की लकड़ी को जलाकर आग उत्पन्न करता है, पहाड़ों को खोदकर खनिज निकालता है, नदियों के जल से घास बोआ लेता है और खेतों की सिंचाई कर लेता है, समुद्र की मछलियों को मारकर व्यापार करता है तथा मोती और मूँगा निकाल कर अपना घर भर लेता है। इंद्रियाँ उसकी भौतिक आकांक्षाओं की और आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती हैं। पर उसकी दुनियाँ यही समाप्त नही होती। इन्ही वृक्षो और पहाड़ों, नदियो तथा समुद्रो मे उसे सौंदर्य का दर्शन हो जाता है, अनंत के अनंत संमोहक रूप की झाँकी मिल जाती है, कलकल निनाद मे संगीत सुनाई देता है और अपने तथा उसके भीतर समान रूप से परिचालित किसी प्राण शक्ति के स्पंदन की अनुभूति किसी अज्ञात किंतु परम सत्य का आभास दे जाती है। वही इंद्रियाँ उसकी इस अंतश्चेतना की अमूर्त अनुभूति की साधक होती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव का स्वरूप भौतिक और अभौतिक शक्तियो के संयोग और समन्वय का परिणाम है। इस दशा में मनुष्य जब मिट्टी का पुतला होने के साथ साथ उज्ज्वल चेतना और अनुभूति की अभिमूर्ति भी है तो हम कह सकते हैं कि जिस प्रकृति ने उसे यह विशेषता प्रदान की है उसकी दृष्टि मे उसके जीवन की उपयोगिता और सार्थकता केवल इतनी ही नही हो सकती कि मानवप्रपंच के वैभव और भोग के उपभोग को ही परम सत्य और लक्ष्य मान ले। अवश्य ही उसने उसके लिये इससे कही अधिक उन्नत, सुंदर, शुभ और मानवीय आदर्श की कल्पना की होगी जिस तक पहुँचना मानव जीवन के लिये अभीष्ट समझ लेगा।

पश्चिम ने इन दोनों पहलुओं को नहीं देखा। भौतिकता ने उसे अभिभूत कर दिया। फलतः उसने इतिहास की भौतिक व्याख्या तो समझी, पर जीवन की नैतिक व्याख्या संसार के कल्याण के लिये आवश्यक है यह न समझ सका। सृष्टि और जीवन का एक निश्चित ध्येय है और जगत् के मूल में स्थित कोई चिन्मयी धारा उसे उसी ओर को प्रवाहित करती है, इसका ज्ञान न कर सका। प्राणी के जीवन के विकास की प्रक्रिया और इतिहास में ही उस शक्ति के अस्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है। विकासवादी कहते हैं कि मनुष्य का आरंभिक उद्भव अत्यंत हीन और कुत्सित जंतु के रूप में ही हुआ होगा। विकास की प्रक्रिया ने उसे आज अपने उन्नत और विकसित रूप में पहुँचाया है। यदि विकासवादियों की ही बात सही मान ली जाय तो क्या वह इस सत्य की ओर संकेत नहीं कर रहा है कि विकास की प्रक्रिया को चरितार्थ करनेवाली शक्ति का यह निश्चित ध्येय है कि वह प्राणी को अधिकाधिक उन्नति और पूर्णता की ओर बढ़ाए लिए चले। जीवन क्रमशः

एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर, उच्च से उच्चस्तर की ओर जाय यही लक्ष्य है सृष्टि का और जीवन का, जिसे प्राप्त करना विकास की प्रक्रिया की चेष्टा ज्ञात होती है। हीनता, तुच्छता, अशुभ और पशुप्रवृत्तियों को परिमार्जित, संतुलित और संयमित करते हुए ही मानव विकास के पथ पर बढ़ सका है। उसकी प्रगति के मूल में यह संघर्ष रहा है और यही मानव में जीवन का स्वाभाविक और नैतिक धर्म है। यही जीवन की नैतिक व्याख्या है जो भौतिकता की सीमा से हमें परे ले जाती है। जड़ और अत्र भूतों की यांत्रिक तथा निरुद्देश्य और लक्ष्यहीन उछलकूद का परिणाम मनुष्य नहीं है अपितु उसके उद्भव के मूल में कोई भौतिक तथा अभौतिक लक्ष्य भी है। यह सत्य मनुष्य की दुनियाँ को मूर्त लौकिक परिधि से कहीं दूर पहुँचा देता है। इस परिस्थिति में आवश्यक हो जाता है कि मनुष्य जहाँ सांसारिक सुखों तथा अपनी सजात होंन प्रवृत्तियों की सत्ता को स्वीकार करके उसकी पूर्ति के लिये यत्नशील होना अपना स्वाभाविक धर्म समझे, वहीं यह भी मान ले कि उसके जीवन का ध्येय और विकास की धारा उससे यह अपेक्षा करती है कि वह केवल उसे ही सम्पूर्ण सत्य न समझ ले बल्कि उसे उन नैसर्गिक उत्तम प्रवृत्तियों को जाग्रत तथा सक्रिय करने का यत्न भी करना चाहिए जो अशुभ वासनामयी लोलुप लिप्साओं से संघर्ष करते हुए मानव को क्रमशः पूर्णता की ओर बढ़ाती रही है। पर आज की दुनियाँ ने विकास की धारा के इस अभौतिक स्वरूप और लक्ष्य की उपेक्षा की है। मनुष्य की एक ही आवश्यकता सर्वोपरि हो गई, फलतः उसने एक ही दिशा का मार्ग पकड़ा। जिस प्रकार भोग, ऐश्वर्य और विलास की कामना परितृप्त हो और जिस क्षण जो कार्य वृत्ति के अनुकूल हो वही उचित और ग्राह्य हो गया। यही है जगत् के विनाश और आधुनिक सभ्यता की असफलता का मूल कारण। जो समूह केवल शरीर में डूबा रहे, जो केवल भौतिक तथा आर्थिक अस्तित्व को ही अस्तित्व माने और उस समस्त उत्तम मानवीय पहलुओं की उपेक्षा करे जो मानव को मानव बनाते हैं और जो उसके विकास के अटूट नियम के रूप में सदा स्थिर है, वह समूह न सभ्य कहा जा सकता है और न उसकी सभ्यता सभ्यता। यही कारण है कि वैज्ञानिकों की बुद्धि और तपश्चर्या ने जगत् की परिस्थितियों में जो परिवर्तन कर दिया उससे मनुष्य अपना सामंजस्य स्थापित न कर सका। जब तक यह स्थिति है तब तक विनाश होता रहेगा, शोषण और दलन रहेगा, दासता और दीनता रहेगी। इसका उपचार न वर्गसंघर्ष को तीव्र करने से हो सकता है, न एक वर्ग का लोप कर देने से। जो जीवन को विशुद्ध भौतिक भाव प्रदान करने पर तुले हुए हैं, जो इच्छाओं की पूर्ति में ही एकमात्र सुख और उसे अपना ध्येय माने हुए हैं, वे कभी इस स्थिति को सुलझा नहीं सकते। जीवन के एक ही पहलू को पकड़कर उसकी समस्या को सुलझाने का जो उपचार भी किया जायगा वह मौलिक उपचार नहीं हो सकता। अस्थायी रूप से यदि एक समस्या हल हो भी गई तो दूसरे उपसर्ग उत्पन्न हो जायँगे।

फलतः जगत् की आवश्यकता युगांतर की अपेक्षा कर रही है। वह दुनियाँ, नए दृष्टिकोण, नए आदर्श और जीवन के नए मूल्य स्थिर करने के लिये उतावली हो रही है। नए आधारों पर नए विश्व की स्थापना के लिये मानवता को स्वयंमेव

आगे बढ़ने के लिये बाध्य होना होगा। भारत इसमें उसकी कुछ सहायता कर सकता है। उसका अतीत इस बात का साक्षी है कि उसने समय समय पर मानवता की सहायता की है। ऐसा आभास मिलता है कि भारत के पास कुछ है जिसे प्रदान करके वह विकल हुई मानवता को शांति प्रदान कर सकता है। यह स्थिति इस देश के कुछ काल्पनिको को, कुछ आदर्शवादियों को उत्साह और उत्तेजना प्रदान करती है। भारत ने अति प्राचीन काल में जीवन के तथ्य को यूरोप की अपेक्षा अधिक समझा था, यह मेरा विश्वास है। उसके तत्वद्रष्टा ऋषियों ने मनुष्य को उसके पूर्ण रूप में देख लिया था। उन्हे इस सत्य का साक्षात्कार हो गया था कि जीवन न केवल भौतिक है और न केवल आध्यात्मिक। इन दोनो के संयोग से कलामयी प्रकृति ने उसका निर्माण किया है। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि जीवन की धारा का एक लक्ष्य है जिसकी ओर ही उसे प्रवाहित होना चाहिए। मनुष्य का उज्ज्वल अंश सदा उसे उस लक्ष्य की ओर ही उत्प्रेरित करता रहा है। भले ही मनुष्य को द्वंद्व करना पड़ा हो पर उसकी गति का मार्ग उसी दिशा की ओर निर्धारित है जिधर जाने के लिये प्रयत्न करना उसकी साधना है। वे कल्पना करते थे कि एक मुहूर्त आ सकता है जब मनुष्य का एक पहलू विजयी होकर उसे भौतिक सीमा के बंधनों से इस प्रकार मुक्त कर दे कि वह अपने को विश्व की आत्मा में लय कर देने मे समर्थ हो जाय। मानव की उन्नत चेतना और विकसित जीवन से प्रकृति यही आशा करती है कि वह अपने स्वार्थ, अपने अहं और अपने क्षुद्र भौतिक बंधनों से निकलकर विराट की असीमता में एकात्म हो जाय। फिर जगत् के कल्याण में ही उसे अपना कल्याण दिखाई देगा। वही होगा वह स्तर जहाँ पहुँचकर मानव पूर्ण और मुक्त हो जायगा।

इसी दृष्टिकोण को लेकर उन्होंने जीवन के दोनों पहलुओं में सामंजस्य स्थापित किया। मनुष्य की भौतिकता को स्थान अवश्य दिया पर उसकी आध्यात्मिकता को प्राधान्य प्रदान किया। आध्यात्मिक और नैतिक अंश ही स्थूल जीवन का संचालन और नियामक हो। शरीर की उपेक्षा न की जाय पर शरीर ही सब कुछ नहीं है। वह साधन है किसी साध्य का, स्वयं साध्य नहीं है। फलतः न साध्य साधन की उपेक्षा कर सकता है न साधन साध्य की। जिस दिन भारत ने स्वयं यह तथ्य भुलाया उस दिन से उसका पतन आरंभ हुआ। उसके इतिहास मे एक समय आया जब भारत ने वही गलती की जो यूरोप आज कर रहा है। यूरोप ने मानव के आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा करने की भूल की है तो भारत ने उसके भौतिक पहलू की उपेक्षा करने की गलती की थी। जगत् मिथ्या है और जीवन भी नश्वर है अतएव असत्य है, इस प्रकार ने जिस निवृत्ति मार्ग का प्रजनन किया उसने सामूहिक जीवन को आध्यात्मिक तो न बनाया पर जगत् की उपेक्षा करने की बात जरूर सिखा दी। भारत की निष्क्रियता उसको ले डूबी। उसी प्रकार आज यूरोप घोर प्रवृत्ति का पुजारी होकर, 'केवल यही सत्य है और इसके सिवा कुछ नहीं' की आवाज लगा रहा है। फलतः उसका पतन भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। प्राचीन भारत ने इन दोनो के बीच सत्य की स्थापना की थी। दोनों अपने अपने स्थान पर सत्य है और दोनो के सामंजस्य में ही जीवन और जगत् का कल्याण

है, यह उसका विचार था। उसने जिस आश्रमधर्म को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की बुनियाद बनाया था वह है प्रमाण उसके उपर्युक्त दृष्टिकोण का जिसमें मानव के भौतिक और अभौतिक, स्थूल और सूक्ष्म, दोनों स्वरूपों में सामंजस्य की स्थापना का प्रयत्न दिखाई देता है।

फलतः इस देश के पास जगत् को देने के लिये संदेश है। उसे यह संदेश देना है कि जीवन का, समाज का, उसकी आर्थिक या सामाजिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था का आधार केवल भौतिकता नहीं हो सकती। अपने ही स्वार्थ और अपनी सुखपिपासा की शांति के लक्ष्य को लेकर जिस जीवन का निर्माण होगा वह न केवल पथभ्रष्ट होगा बल्कि संसार के लिये अभिशाप बन जायगा। मानवता इसकी सीमा से परे है, जिसकी भावात्मिका दुनियाँ भी है जिसमें सत्य और सौंदर्य के आधार पर जीवन का मूल्य अंकन करना होगा। उसके आधार पर आदर्शों की स्थापना करनी होगी और कर्तव्य तथा अधिकारों की रचना होगी जो नैतिकता और मानवता का रूप ग्रहण करगी। मनुष्य का भौतिक जीवन अपना स्थान रखेगा पर उसे उसके उत्तमांश से प्रभावित होना पड़ेगा। दंभ, अहंकार, ऐश्वर्य और परोत्पीड़न की शक्ति सभ्यता और प्रगति की द्योतक न हो कर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' की कल्याणमयी भावना से ओतप्रोत समाज और जीवन को सभ्य तथा प्रगतिशील मानने का दृष्टिकोण अपनाना होगा। उस समय आज का विज्ञान भी मानवता का परम वरदान हो जायगा। पर जहाँ उसे यह प्रदान करना है वहीं पश्चिम से स्वय भी कुछ लेना है। अतीत की सब बातों को जहाँ भला ही समझना दोषपूर्ण है वहाँ बाहर से जो भी आता हो सबको ग्रहण कर लेना भी बुरा है। भारत आज इन दोनों में से किसी मार्ग को पकड़कर न अपना कल्याण कर सकता है और न मानवता की सेवा कर सकता है। उसका धर्म है कि उसके पास जो है उसमें से रत्न मिले तो निकालकर अपने उपयोग में लावे और बाहर से जो आता है उसे बुद्धि और हिताहित की कसौटी पर कसकर उसे अपना ले जो ग्रहणीय दिखाई दे। ज्ञान किसी की बपौती नहीं है और न सत्य के सबंध में यह दावा किया जा सकता है कि उसकी अंतिम सीमा तक कोई पहुँच चुका है। सत्य अनंत है, उसका स्वरूप अनंत है अतः मनुष्य के ज्ञान का भी अंत न होगा। फलतः पश्चिम से जो प्रकाश मिल रहा है और विज्ञान जो ऐश्वर्य प्रदान कर रहा है उसे कृतज्ञता और उदारतापूर्वक उसी प्रकार ग्रहण करना है जिस प्रकार अपने यहाँ के सद्ज्ञान का उपयोग करना है। पश्चिम के स्वतंत्र चिंतन और सप्राणता, जिज्ञासा और तेजस्विता, आलोचनात्मक वैज्ञानिक दृष्टि और खतरा उठाने का साहस हमें ग्रहण करना है। उसके पास ज्ञान है पर विवेक नहीं है जिससे वह ज्ञान का सदुपयोग करे। हमारे पास विवेक है पर ज्ञान नहीं है कि हम उसे सजीव रख सकें। आज मानवता इन दोनों के आदानप्रदान से बच सकती है। यही है मार्ग जगत् के महारोग के निराकरण का।

यह है आवश्यकता भारत की और उसके संमुख अवसर प्रस्तुत होने जा रहा है जब वह अपना अभिनय कर सकता है। जगत् एक सूत्र से बँधने जा रहा है और बँधेगा। मनुष्य की आवश्यकताएँ उसे इस ओर बढ़ने के लिये बाध्य करेंगी और

इच्छा से हो या अनिच्छापूर्वक उसे यह स्थिति अपनानी होगी। उस समय परस्पर के आदानप्रदान से उस महती मानवसंस्कृति का जन्म हो सकेगा जो खून और खड्ग स्वार्थ और संघर्ष, हिंसा और द्वेष, घृणा और क्रोध, शोषण और पीड़न, दलन और दासता के स्थान पर अहिंसा और उत्सर्ग, उदारता और सहिष्णुता, साहाय्य और सहयोग, समानता और संतोष के आधार पर अपने समाज की रचना करेगी। मैं समझता हूँ कि काल की सूत्रात्मा की यही पुकार है। मेरे मन में आता है कि गाँधी कदाचित् उसी पुकार की सजीव प्रतिध्वनि है। आज सौभाग्य से भारतीय अंतरिक्ष को ही उस ध्वनि को ध्वनित करने का श्रेय प्राप्त हुआ है। वह पुनीत क्षण होगा मानवता के लिये जब वह विकास की ओर एक और कदम बढ़ाती दिखाई देगी। यह है स्वप्न जो मेरे सामने उपस्थित है। भले हो इसे कोई कोरी कल्पना कहे पर यह कल्पना भी योग्य और उपयुक्त कल्पना है। जिन्हें मानवता के भविष्य में विश्वास है वे इसके सिवा दूसरी कल्पना कर ही नहीं सकते। फलतः आज इस देश के सामने और विशेषकर युवकों के सामने यह महान् आदर्श उपस्थित है। यह देश न केवल आदर्शवादी रहा है बल्कि पुनीत आदर्शों का जनक होने का श्रेय प्राप्त कर चुका है। इसके पुत्र यदि आदर्शवादी हों तो अपनी परंपरा के अनुकूल ही होंगे। आज मुझे, तुमको और समस्त युवकों को ही नहीं, बल्कि सारे देश को अपना मार्ग निर्धारित करना है। उन्हें देखना है कि इस आदर्श की पूर्ति के लिये हममें अनुकूल चरित्र और आवश्यक बल तथा ओज का विकास होता है। यही है महान् कर्तव्य। देखें कहाँ तक हम सफल होते हैं।

अब मैं यह पत्र समाप्त करता हूँ। यह अपेक्षाकृत बहुत अधिक लंबा हो गया पर मैंने जानबूझकर बीच में उसे खंडित करना उचित नहीं समझा। मेरी केवल यही कल्पना है कि जीवन के महान् लक्ष्य, महान् आदर्श और महान् कर्तव्यों से हमारे युवक अनुप्राणित हों जिसमें न केवल इस बूढ़े भारत का मस्तक ऊँचा हो बल्कि विशाल और गौरवपूर्ण मानवसमाज की भी कुछ सेवा हो सके। इति शम्।

तुम्हारा
बाबू

-:०:-

# २१

नैनी सेंट्रल जेल

ता०

प्रिय लालजी !

आज मैं इस पत्रमाला की अंतिम पंक्तियाँ लिख रहा हूँ । महीनों तक इसने जेलजीवन के मेरे सूखे और निर्जीव क्षणों को रस तथा संजीवनी प्रदान की है जिसके लिये मैं उसका कृतज्ञ हूँ । आज वह मुहूर्त आ गया है जब भीतर से प्रेरणा हो रही है कि मैं इसे समाप्त करूँ । आठ वर्ष की ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा को दिन के मध्याह्न मे मेरी दृष्टि के समक्ष रूप की ज्योति भौतिक देह को छोड़कर न जाने कहाँ लुप्त हो गई । आज वही पूर्णिमा है । मुझे स्मरण है कि जीवन न जाने किससे उपराम, और परि-स्थितियों के घात प्रतिघात के कारण कुछ नीरस और शुष्क सा हो गया था । ऐसे समय एक दिन वे उसमें अवतीर्ण हुई और अपनी सरसता तथा स्नेह पूर्ण व्यक्तित्व से उसे एक दिशा की ओर मोड़ ले चलीं । मैंने देखा कि जीवन रस से सिंचित दिखाई दे रहा है । उसके प्रति आकर्षण की अनुभूति हुई और जगत् में भी सौंदर्य का आभास झलका । पर संयोग और मेरे भाग्य को मेरी यह स्थिति कदाचित् पसंद नही आई । पुनः परिवर्तित क्षण आया और वे अपूरणीय अभाव तथा महती शून्यता की सृष्टि करके चली गईं । तब से आठ वर्ष बीत गए पर उनकी स्मृति मेरे जीवन के साथ गुथी हुई है । मैं कभी किसी स्थिति मे उन्हें भूल न सका । यह स्मृति मेरी अमूल्य निधि रही है । उसने न जाने कब, कैसे और किन कारणों से मुझे जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण प्रदान कर दिया । उसके प्रकाश मे अनेक अनुभूतियाँ हुई, विचार उपजे, विलीन हुए और पुनः किसी रूप को धारण करके मन में सुदृढ़ भाव से आ विराजे । हर्ष है और अपने लिये सौभाग्य की बात समझता हूँ कि उस दृष्टिकोण ने जीवन की समस्याओं को उलझाया नही बल्कि सुलझाने में ही सहायता प्रदान की । उससे उत्पन्न विचार, भाव और अनुभूतियाँ मेरी सहायिका ही हुई । शायद इस प्रकार यहाँ से जाकर भी उन्होंने मेरी सहायता करना नहीं छोड़ा । वे भाव सदा मन में लहराते रहे है और उनकी स्मृति निरंतर साथ रही है । यहाँ के अकेलेपन में वे भाव बहुधा सामने आते रहे है । अनायास बैठे बैठे लिखने लगा और जब जैसे विचार आते गये लिखता गया । इसने हृदय का भार भी हलका किया ।

आज पूर्णमासी है और उनकी पुण्यतिथि है । मुझे ऐसा लगा कि उसके उपलक्ष्य मे आबद्ध बंदी होते हुए भी अपनी चेतना की इस लहरी को तुम्हें अर्पण कर दूँ । तुम लोग मेरे लिये उनकी स्मृति के प्रतीक हो । शायद इस कारण भी तुम्हारा ध्यान बराबर आता रहा है । आरंभ मे लिख चुका हूँ कि तुम्हें उनकी

धरोहर के रूप में देखता हूँ। शायद उस कर्तव्य की भी पूर्ति इसके द्वारा हो जाय। मालूम नहीं इसमें कितनी बातें ऐसी हैं जिनका तुम्हारे लिये अपने जीवन से कोई संबंध न होगा। शायद उनसे तुम्हारा मनोरंजन भी न हो। पर हो या न हो मैं अपने संतोष के साथ साथ यह भी समझकर ही लिखता रहा हूँ कि उनसे कदाचित् तुम्हारे जीवन में तुम्हें कुछ सहायता मिल जाय। बस, अब इन पंक्तियों को समाप्त करता हूँ। मेरी कामना केवल इतनी है कि तुम जीवन में सफल हो और उस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सको जो मानव होने के नाते और भारतीय होने के नाते तुम पर आ पड़ा है। इस कामना के साथ ये पृष्ठ और उनकी पंक्तियाँ तुम्हें अर्पित हैं।

१८ जून १९४३<br>१ जेष्ठ शुक्ल पूर्णिमा<br>नैनी सेंट्रल जेल, प्रयाग।

तुम्हारा<br>बाबू